॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

१२०

श्रीईश्वरकृष्णविरचिता

सांख्यकारिका

सटिप्पण-श्रीगौडपादभाष्योपेता

हिन्दीभाषानुवादेन च समलङ्कृता ।

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

१९५३

पृ० - 102

* श्रीः *

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

१२०

श्रीईश्वरकृष्णविरचिता

सांख्यकारिका

श्रीगौडपादाचार्यकृतभाष्यसहिता ।

न्यायाचार्य-काव्यतीर्थ-

पण्डित श्रीढुण्ढिराजशास्त्रिकृतया

विषमस्थलटिप्पण्या हिन्दीभाषानुवादेन

च समेता ।

खण्डन

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

द्वितीयं संस्करणम्] मूल्यं १) [वि० संवत् २०१०

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८ बनारस-१

JAYA KRISHNA DAS HARI DAS GUPTA
The Chowkhamba Sanskrit Series Office.
P. O. Box 8, Banaras.
1953

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

भूमिका

सांख्यदर्शन की प्राचीनता—

सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। संस्कृत वाङ्मय सांख्यके सिद्धान्तोंसे भरा पड़ा है। बौद्ध पण्डित अश्वघोषने अपने बुद्धचरित नामके काव्यमें भगवान् बुद्धके गुरू अरदाचार्य को सांख्यशास्त्रका वेत्ता कहा है। मनुस्मृतिमें सांख्यके सिद्धान्तोंका अनुसरण करके जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया है। उसीके द्वादशाध्यायमें सांख्याभिमत सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंको तथा प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। भगवद्गीतामें सांख्य और योगका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है। महाभारतके पञ्चशिख-जनक संवादमें सांख्यशास्त्र के मुख्य २ सिद्धान्तोंका वर्णन मिलता है। उपनिषदोंमें भी सांख्यके प्रायः सभी सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में सांख्यका सर्वप्रथम नामतः उल्लेख मिलता है। काठक उपनिषद्में सांख्यके तत्त्वोंमें कौन किससे बड़ा है इसका विशद वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद्में सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंका वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य उपनिषदोंमें भी सांख्यके सिद्धान्तोंका यत्र तत्र उल्लेख मिलता है।

कुछ लोग सांख्यदर्शनको बौद्धदर्शनकी अपेक्षा अर्वाचीन तथा उसके सिद्धान्तोंसे प्रभावित मानते हैं। उनका कथन है कि दुःखनिवृत्तिके लिये तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति, यागादि वैदिक कर्मोंको व्यर्थ मानना, ईश्वरके विषयमें अनास्था, अहिंसा आदि सिद्धान्त बौद्धागमसे सांख्यमें लिये गए हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि बौद्धोंकी प्राचीन आख्यायिका सांख्यके प्रवर्तक कपिलको बुद्धसे प्राचीन बतलाती है। अश्वघोषभी बुद्धके गुरुको सांख्यका पण्डित कहते हैं। सांख्यमें प्रकृति, पुरुष, सत्त्वादि तीन गुण आदि सिद्धान्त माने गए हैं। बौद्धागममें उनका खण्डन किया गया है। इन बातोंसे तो सांख्यशास्त्र बौद्धागमसे प्राचीन ठहरता है। यदि एकका दूसरे पर असर पड़ा हो तो सांख्यका ही बौद्धागम पर पड़ा होगा।

'सांख्य' यह नाम क्यों पड़ा—

सांख्यशास्त्र का 'सांख्य' यह नाम क्यों पड़ा इस विषयमें तीन मत प्रचलित हैं। प्रथम मतके अनुसार सांख्य शब्द 'गिनती' वाचक 'संख्या' शब्दसे बना है। सांख्यशास्त्रमें तत्त्वोंकी संख्या पचीस बतलाई गई है। इसीलिये इसे सांख्य कहते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि वैशेषिक आदि अन्य शास्त्रोंमें भी तत्त्वोंकी संख्या बतलाई गई है, तब उन शास्त्रोंका भी नाम सांख्य क्यों नहीं पड़ा? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि सांख्य सब शास्त्रोंसे प्राचीन है। संख्याके आधार पर एक बार उसका नाम रख देने पर पीछे उत्पन्न होनेवाले शास्त्रोंका उसी आधार पर वही नाम रखना उचित न होता। भेद बोधन करनेके लिये पीछेके शास्त्रोंके नये नाम रक्खे गए।

दूसरा मत यह है कि सांख्याचार्य द्वारा निर्माण किये जानेके कारण इस शास्त्रका नाम 'सांख्य पड़ा। यह मत तो अप्रामाणिक प्रतीत होता है, क्योंकि सर्वत्र कपिलका ही इस शास्त्रके निर्माताके रूपमें वर्णन किया गया है।

इस विषयमें तीसरा मत यह है कि प्राचीन कालमें किसी विषय पर प्रमाण-परिष्कृत सरणीसे विचार करनेको संख्या कहते थे। इस विषयमें महाभारतका निम्नलिखित पद्य ध्यान देने योग्य है—

दोषाणाञ्च गुणानाञ्च प्रमाणं प्रविभागतः। कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥

इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में 'दोषगुणमीमांसा' अर्थात 'दार्शनिक विचार' इस अर्थमें संख्या शब्दका प्रयोग होता था। इसी संख्या शब्दसे सांख्य शब्द बना है। यही मत ठीक प्रतीत होता है।

सांख्यके प्रसिद्ध आचार्य—

सांख्यशास्त्रकी रचना कपिल महामुनिने की है। इन्हें 'आदिविद्वान्' भी कहते हैं। इन्होंने उपनिषदोंसे सांख्यके सिद्धान्तों का संग्रह करके उन्हें एक शास्त्रके रूपमें प्रस्तुत किया। कपिलने यह शास्त्र अपने शिष्य आसुरिको सिखाया। आसुरिने इसे अपने शिष्य पञ्चशिखको दिया। पञ्चशिखसे शिष्यपरम्परा द्वारा यह शास्त्र ईश्वरकृष्णको मिला। पञ्चशिख और ईश्वरकृष्णके बीचकी परम्पराका ठीक पता नहीं चलता। माठरवृत्तिमें भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल आदि ऋषियोंके नाम मिलते हैं। युक्तिदीपिकामें बाष्कलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य कौण्डिन्य और मूकके नाम दिये हैं। इनके अतिरिक्त गर्ग और गौतमके नाम भी मिलते हैं।

ईश्वरकृष्ण का कालनिर्णय—

परमार्थ नामके किसी चीन देशके पण्डितने सांख्यकारिकाका चीनी भाषामें अनुवाद किया था। यह कार्य ईसवी संवत् की छठवीं शताब्दीमें हुआ था। अतः ईश्वरकृष्णका छठवीं शताब्दीके पूर्व होना निश्चित है।

वार्षगण्य के शिष्य विन्ध्यवासीने 'हिरण्यसप्तति' नामके ग्रन्थकी रचनाकी थी। कुछ विद्वान् इस हिरण्यसप्ततिको ही सांख्यकारिका तथा विन्ध्यवासीको ही ईश्वर-

कृष्ण मानते हैं। वसुबन्धुने हिरण्यसप्तति का खण्डन अपनी परमार्थसप्ततिमें किया था। वसुबन्धुका आविर्भाव ईसवी संवत्के चतुर्थ शतकमें हुआ था। अतः कुछ विद्वानोंके मतानुसार ईश्वरकृष्णका काल चतुर्थ शतकके पूर्व तृतीय शतक है।

अन्य ऐतिहासिक इस मतको नहीं मानते। उनके अनुसार हिरण्यसप्तति तो सांख्यकारिका है परन्तु विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण नहीं। उनका कथन है कि विन्ध्यवासी का असली नाम रुद्रिल था। विन्ध्यके जंगलोंमें रहनेके कारण उनका नाम विन्ध्यवासी पड़ गया था, व अपने मतका समर्थन करनेके लिये तत्त्वसंग्रह से—

यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद्दधीति च। वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिताः विन्ध्यवासिता॥

यह पद्य उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त शान्तरक्षित और गुणरत्नने भी अपने अपने ग्रन्थोंमें ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीका अलग अलग उल्लेख किया है। इन कारणोंसे विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण एक ही पुरुष नहीं माने जासकते। यह तो हुई ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीके अभिन्नताकी बात। ईश्वरकृष्णके कालके विषयमें इन लोगोंका कथन है कि जैनोंके 'अनुयोगद्वारसूत्र' नामके ग्रन्थ में 'कणगसत्तरी' का उल्लेख मिलता है। यह 'कणगसत्तरी' 'हिरण्यसप्तति' या 'सांख्यकारिका' है। 'अनुयोगद्वारसूत्र' का काल ईसवी संवत्का प्रथम शतक है। अतः सांख्यकारिकाके कर्ता ईश्वरकृष्णका काल ईसवी प्रथम शतकसे नीचे नहीं लाया जासकता। सम्भवतः उनका काल ई० पू० प्रथम शतक है।

सांख्यकारिकामें कारिकाओं की संख्या—

सांख्यकारिकाकी मूल कारिकाओंकी संख्याके विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। माठरवृत्तिके साथ प्रकाशित सांख्यकारिकामें ७३ कारिका हैं। उनमें से—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। इस बहत्तरवीं कारिकाके पर्यालोचनसे प्रतीत होता है कि मूल कारिका ७० हैं, अन्य तीन कारिका प्रक्षिप्त हैं। जो लोग विन्ध्यवासी कृत 'हिरण्यसप्तति' को ही सांख्यकारिका मानते हैं उनके मतमें भी मूलकारिका ७० ही हैं। वाचस्पति मिश्र तथा नारायण तीर्थ कृत टीकाओंके साथ प्रकाशित सांख्यकारिका में ७२ कारिका हैं। इससे प्रतीत होता है कि इनको मूल कारिकाओं की संख्या ७२ इष्ट है। चीन भाषाके अनुवादसे मालूम होता है कि मूलकारिका ७१ थीं। गौड़पादाचार्यने इस ग्रन्थकी व्याख्या केवल ६९ कारिका पर्यन्त की है। अतः उनके मतमें अन्तिम चार कारिका प्रक्षिप्त हैं। बालगङ्गाधर तिलक गौडपादभाष्य और माठरवृत्तिका अध्ययन करके कहते हैं कि सांख्यकारिकामें—

कारणमीश्वरमेके पुरुषं कालं परे स्वभावं वा। प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

यह कारिकाभी थी। किसी कारणसे लुप्त हो गई है। उनके विचारसे यह कारिका ६२ वीं है। गौडपादके द्वारा व्याख्यात ६९ कारिकाओंमें इसे जोड देनेसे ७० कारिका हो जाती हैं। ये ही ७० मूल कारिका हैं, अन्य चार प्रक्षिप्त हैं।

वस्तुतः गौडपादभाष्यके साथ छपी ७२ कारिकाओंमें से प्रथम ७० कारिका मूल प्रतीत होती हैं, अन्य दो प्रक्षिप्त हैं। सत्तरवीं कारिका अत्यन्त सरल होनेके कारण गौडपादने उसपर भाष्य लिखना व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया होगा।

षष्टितन्त्र क्या है ?

गौडपादभाष्य सहित प्रकाशित सांख्यकारिका की 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः' इत्यादि ७२ वीं कारिकासे ज्ञात होता है कि ईश्वरकृष्णने आख्यायिका और परवादको छोड़कर षष्टितन्त्रके सब सिद्धान्तोंको सांख्यकारिकाकी ७० कारिकाओंमें दिखा दिया है। यह षष्टितन्त्र क्या है ? कुछ लोगों का कहना है कि प्राचीनकालमें इस नामका कोई ग्रन्थ रहा होगा। माठराचार्यके विचारसे यह शास्त्रका नाम है, ग्रन्थका नहीं। उनका कहना है कि 'षष्टिपदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्त्र्यन्ते तत् षष्टितन्त्रम्'। वाचस्पति मिश्र और नारायण तीर्थ भी इसी मतका समर्थन करते हैं।

गौडपाद का परिचय—

सांख्यकारिका पर सबसे प्राचीन टीका माठरवृत्ति है। पूज्यपाद पं० बलदेव उपाध्यायजी इसका काल ई० अ० प्रथम शतक मानते हैं। बहुत सम्भव है कि सांख्यकारिकाके साथ जिस टीकाका चीनी भाषामें अनुवाद हुआ था वह यही होगी। गौडपादका भाष्य माठरवृत्तिसे अर्वाचीन प्रतीत होता है। वृत्तिके बहुतसे पदार्थ भाष्यमें ज्योंके त्यों लेलिये गए हैं। गौडपादका आविर्भाव ई० अ० आठवें शतकमें हुआ था। ये गौडपाद पूज्यपाद श्री शंकराचार्यजीके गुरु, माण्डूक्यकारिकाके कर्ता, श्रीगौडपादाचार्यसे भिन्न थे। गौडपादभाष्यको देखनेसे इनकी विद्वत्ता माण्डूक्य-कारिकाके कर्ताकी कोटिकी नहीं प्रतीत होती। माठरवृत्ति और गौडपादभाष्यके अतिरिक्त सांख्यकारिका पर युक्तिदीपिका (कर्ताके नाम का पता नहीं), वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी, शंकराचर्यकी जयमङ्गला और नारायणतीर्थकी चन्द्रिका टीकायें हैं। नरसिंहस्वामी का सांख्यतरुवसन्त अप्रकाशित है।

सांख्य निरीश्वर है या सेश्वर ?

सांख्यशास्त्रको लोग सामान्यतः निरीश्वर मानते हैं। षड्दर्शनसमुच्चयके कर्ता हरिभद्र ने—

सांख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः, कह कर सांख्यशास्त्रकी एक धाराका निरीश्वर होना बतलाया है। इससे यह प्रश्न उठता है कि सांख्यशास्त्र निरीश्वर है या सेश्वर।

उपनिषदोंमें सांख्यका जो रूप उपलब्ध होता है वह तो सेश्वर ही प्रतीत होता है। उपनिषदोंमें प्रकृति और पुरुषके ऊपर ब्रह्मकी सत्ता मानी गई है। पुरुषोंको

ब्रह्मका अंशभूत स्वीकार किया गया है। महाभारत, भागवत, भगवद्गीता और मनुस्मृतिमें सेश्वर सांख्यका ही प्रतिपादन किया गया है। यह बात उन ग्रन्थोंके आलोचनसे स्पष्ट होती है। बुद्धने भी अरदाचार्यसे सेश्वर सांख्यका ही अध्ययन किया था। सांख्यकारिकामें प्रतिपादित ईश्वरकृष्णका सांख्य निरीश्वर है इसमें सन्देह नहीं। सांख्यप्रवचनभाष्यके कर्ता विज्ञानभिक्षुका सांख्य सेश्वर है। वे ईश्वरकी सत्ता मानते हैं।

सांख्यको निरीश्वर माननेवाले आचार्यों द्वारा ईश्वरकी सत्ताका निषेध करनेके लिये दिये हुए तर्कोंका सारांश इस प्रकार है—

(१) नित्य परन्तु अपरिणामी ईश्वर जगत्का कारण नहीं हो सकता। यदि वह कारण है तो किस प्रकारका कारण है—उपादान कारण या निमित्त कारण? ईश्वर जगत्का उपादान कारण हो नहीं सकता। क्योंकि वह अपरिणामी है। कार्य तो उपादान कारणका रूपान्तर मात्र होता है।

(२) यदि ईश्वरको निमित्त कारण मानकर जगत्का कर्ता माना जाय तो यह भी असंगत होगा, क्योंकि वह तो निरीह है। जगत्को उत्पन्न करनेमें उसका कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता। कोई भी चेतन व्यक्ति किसी कार्यमें निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता। उन्मत्तोंकी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन होती है। परन्तु आपका ईश्वर तो उन्मत्त नहीं है।

(३) यदि यह कहा जाय कि ईश्वरका कोई स्वार्थ न होने पर भी पुरुषोंके हितके लिये वह जगत्की रचनामें प्रवृत्त होता है, तो यह भी ठीक न होगा, जगत्की उत्पत्तिके पूर्व शरीर न होनेसे पुरुषोंको किसी प्रकारका दुःख ही नहीं है। अतः पुरुषोंके हितके लिये जगत्की रचनामें प्रवृत्तिकी बात ही नहीं उठती। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर पुरुषोंके हितके लिये जगत्की रचना करता है तो वह केवल सुखमय होना चाहिये, संसार तो दुःखपूर्ण है।

इन सब कारणोंसे यह कहना पड़ता है कि ईश्वर कोई पदार्थ नहीं है। प्रकृति ही जगत्का कारण है। वह जड़ होने पर भी पुरुषके हितके लिये स्वयं प्रवृत्त होती है। जिस प्रकार गायका खाया हुआ घास दूधमें परिणत होकर बछड़ेके पोषणके लिये स्वयं प्रवृत्त होता है।

ईश्वरकी सत्ता माननेवाले सांख्याचार्य प्रकृति और पुरुषके संयोगके लिये ईश्वरकी आवश्यकता मानते हैं। उनका कहना है कि पुरुष निरीह है और प्रकृति जड़ है। उन दोनोंका मिलन स्वयं हो नहीं सकता। अतः ईश्वरको मानना पड़ता है। वह साक्षिमात्र है। उसके सन्निधान मात्रसे प्रकृति पुरुषसे मिलकर जगत्की रचनामें प्रवृत्त होती है। इसका उदाहरण चुम्बक है। उसके समीप आते ही लोहेमें गति उत्पन्न हो जाती है।

सांख्य और योग का परस्पर सम्बन्ध—

सांख्य और योग परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं हैं। योगमें भी सांख्यमें प्रतिपादित तत्त्व माने गए हैं। भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी कहा है—

सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

सांख्यमें प्रतिपादित पञ्चविंशति तत्त्व योगमें भी माने गए हैं। प्रत्यक्षादि तीन प्रमाण दोनों शास्त्रोंको इष्ट हैं। प्रकृति और पुरुषका संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है—यह तत्त्व भी दोनों शास्त्रोंमें समान रूपसे स्वीकार किया गया है। सांख्य ज्ञान प्रधान है और योग क्रिया प्रधान। सांख्यमें तत्त्वमीमांसा है, योगमें चित्तवृत्तिके निरोधके उपायोंका वर्णन किया गया है। मोक्षप्राप्तिके साधनके विषयमें दोनोमें कुछ अन्तर है। सांख्य पञ्चविंशतितत्त्वोंके ज्ञानको मोक्षका कारण मानता है, और योग चित्तवृत्तिके निरोधकी पराकाष्ठाको पुरुषके स्वरूपमें अवस्थानका कारण बतलाता है। योगमें ईश्वर नामका छब्बीसवां तत्त्वभी माना गया है यह भी योगकी विशेषता है। चार्वाकको छोड़कर प्रायः सभी शास्त्रोंमें शरीर और चित्तकी शुद्धिके लिये यौगिक क्रियायें प्रशस्त मानी गई हैं।

काशी
सं० २०१०

कान्तानाथ शास्त्री तैलंग

सभाष्य-साङ्ख्यकारिका-विषयसूचीपत्रम् ।

॥ श्रीः ॥

साङ्ख्यकारिका

सटिप्पणगौडपादभाष्यसहिता

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्यात् साङ्ख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय(१) ॥ १ ॥
अल्पग्रन्थं स्पष्टं प्रमाणसिद्धान्तहेतुभिर्युक्तम्(२) ।
शास्त्रं शिष्यहितायं समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥

दुःखत्रयेति । अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते(३) । इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम, तद् यथा—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यञ्च' इति । एवं स उत्पन्नः सन् अन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणाय इदं पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानम् उक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

---

(१) सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रिगुणैः प्रतायमानेऽमुष्मिन्मायाप्रपञ्चे निमज्जतां प्राणिनामुद्धरणार्थं 'संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते । चतुर्विंशतितत्त्वानि तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥' इत्याद्युक्तदिशाऽन्वर्थसंज्ञा सांख्यदर्शनात्मिका नौरिव येन महर्षिणा विनिर्मिता तस्मै नम इति भावः । (२) दृष्टादीनि प्रमाणानि, सत्कार्यवादादिरूपाः सांख्यसिद्धान्ता, अव्यक्तादिप्रमेयसाधकहेतवश्च तैर्युक्तमित्यर्थः । (३) प्रासङ्गिकं पीठमारच्यत इत्यर्थः ।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

तदिदमाहु—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति । तत्र दुःखत्रयम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं—शारीरं मानसं चेति । शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि । मानसं प्रियवियोगाप्रियसंयोगादि । आधिभौतिकं चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं(१) मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते । आधिदैविकं—देवानामिदं दैवम्, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य(२) यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम् ।

एवं यथादुःखत्रयाभिघाता(३)ज्जिज्ञासा कार्या । क ? तदभिघातके हेतौ । तस्य दुःखत्रयस्य अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति । 'दृष्टे सापार्था चेत्, दृष्टे हेतौ दुःखत्रयाभिघातके सा जिज्ञासाऽपार्था चेद् यदि, तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया प्रियसमागमाप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायकाथादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः, आधिभौतिकस्य (४)रक्षादिनाऽभिघातो दृष्टः, दृष्टे साऽपार्था चेदेवं मन्यसे', न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात् । यत एकान्ततोऽवश्यमत्यन्ततो नित्यं दृष्टेन हेतुनाऽभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र(५) एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा विविदिषा कार्येति ॥ १ ॥

(६) 'यदि दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैव, यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः, अनुश्रूयत इत्यनुश्रवस्तत्र भवः आनुश्रविकः, स च आग-

---

(१) अनुपदवक्ष्यमाणजरायुजादिचतुर्विधभूतसमुदायोत्थम् । (२) तन्निमित्तीकृत्येत्यर्थः । (३) इत्युक्तदुःखत्रयाभिसम्बन्धादित्यर्थः । (४) निरत्ययस्थाननिवासनीतिशास्त्रानुसरणादिरूपरक्षादिनेत्यर्थः । इदमुपलक्षणम्—आधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधादिनाऽभिघातो द्रष्टव्यः । पूर्वपक्षमुपसंहरति दृष्ट इति । (५) पूर्वोक्तदृष्टोपायाद्भिन्ने सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानरूप इत्यर्थः । (६) शङ्कते यदीति । नैवेति । दृष्टोपायातिरिक्ते सांख्यशास्त्रजन्यतत्त्वज्ञानविषये जिज्ञासा नैव कार्या इति शेषः । तत्र हेतुमाह यत इति ।

मात् सिद्धः, यथा—

अपाम सोममममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं वा नूनमस्मान् तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य॥

(१)कदाचिदिन्द्रादीनां देवानां कल्प आसीत्—कथं वयममृता अभूमेति विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं पीतवन्तः सोमं तस्मादमृता अभूम अमरा भूतवन्त इत्यर्थः। किञ्च, अगन्म ज्योतिः-गतवन्तः लब्धवन्तः ज्योतिः स्वर्गमिति। अविदाम देवान्-दिव्यान् विदितवन्तः। एवं च किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः, नूनं निश्चितं किमरातिः शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्तेति। किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य धूर्तिर्जरा हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य(२)। अन्यच्च वेदे श्रूयते आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन-'सर्वाल्लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते' इति। ऐकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते (३) अपार्थैव जिज्ञासा, इति' न। उच्यते-दृष्टवदानुश्रविक इति। दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत् योऽसौ आनुश्रविकः, कस्मात् स दृष्टवत्? यस्मादविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। अविशुद्धियुक्तः पशुघातात्, तथा चोक्तम्—

षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥ इति।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि (४) मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति। तथा—

बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे।
कालेन समतीतानि कालो हि दुरतिक्रमः॥ इति।

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः। तथाऽतिशयो विशेषस्तेन युक्तः। विशेषगुणदर्शनादितरस्य(५) दुःखं स्यादिति। एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत्। 'कस्तर्हि श्रेयानिति चेत्'? उच्यते-तद्विपरीतः श्रेयान्, ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां विप-

---

(१) सेतिहासम्मन्त्रार्थमाह कदाचिदिति। कल्पः-न्यायः। (२)दिव्यशरीरस्य मे इत्यर्थः। आनुश्रविककर्मकलापस्यात्यन्तिकदुःखनिवृत्तौ प्रमाणान्तरमाहान्यच्चेति। पशुबधेन-तन्निमितेन यागादिकर्मणेत्यर्थः। (३) आत्यन्तिकैकान्तिकदुःखपरिहारके वैदिके कर्मणि सुकरे उपाये विद्यमाने सति दुष्करे शास्त्रोक्ततत्त्वज्ञानरूपे जिज्ञासा व्यर्थैवेत्यर्थः। (४) पशुवधजन्यपापफलदुःखयुक्तत्वात् स्वर्गादिरूपयागफलजनको धर्मो न इत्यर्थः। वैधहिंसाभिन्नहिंसैव पापजनिकेत्यत्र भिन्नान्तत्वनिवेशे प्रमाणाभावात्। (५) हीनगुणसम्पदः।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

रीतः श्रेयान् प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयायुक्तत्वात् । स कथमित्याह—व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात् । तत्र व्यक्तं महदादि-बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि, अव्यक्तं प्रधानम्, ज्ञः पुरुषः, एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते, एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति । उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि ॥ २ ॥

'अथ व्यक्ताव्यक्तज्ञानां को विशेष इति'(१) उच्यते—मूलप्रकृतिः प्रधानम्, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात्, मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः, अविकृतिः अन्यस्मान्नोत्पद्यते, तेन प्रकृतिः(२) कस्यचिद्विकारो न भवति। **महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त** । महान् बुद्धिः, बुद्ध्याद्याः सप्त—बुद्धिः १ अहङ्कारः १ पञ्च तन्मात्राणि ५ एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तद् यथा-प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति, सैवाहङ्कारमुत्पादयति अतः प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्च तन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः । तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवं(३) वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवं पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवं तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिस्तदेवमप उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च । **षोडकस्तु विकारः**, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च महाभूतानि एष षोडशको गणो विकृतिरेव विकारो विकृतिः । **न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः (४)** ॥ ३ ॥

---

(१) पूर्वोक्तपञ्चविंशतितत्वानां संक्षिप्तचतुर्विधसांख्याभिमतपदार्थेषु अन्तर्भावरूपविशेष उच्यत इत्यर्थः । (२) प्रकर्षेण कार्यकारणात्प्रकरणात्प्रकृतिरिति वाचस्पतिमाठरौ । (३) पूर्वोक्तशब्दतन्मात्ररीत्या, एवमग्रेपि । (४) एवं च प्रकृतिविकृतिरूपे जगति कश्चित्प्रकृतिरूप एव, कश्चिद्विकृतिरूप एव, कश्चिदुभयरूपः कश्चिदनुभयरूप एव पदार्थ इति भावः ।

(१) एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः कियद्भिः प्रमाणैः केन कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति, इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते, यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयस्तुलया चन्दनादि, तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्(२)। दृष्टमिति। दृष्टं यथा श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासंख्यम्, शब्दं श्रोत्रं गृह्णाति, त्वक् स्पर्शं, चक्षू रूपं, जिह्वा रसं, घ्राणं गन्धमिति, एतद् दृष्टमित्युच्यते प्रमाणम्। (३)प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते स आप्तवचनाद् ग्राह्यः(४)। यथा 'इन्द्रो देवराजः, उत्तराः, कुरवः, स्वर्गेऽप्सरसः' इत्यादि। प्रत्यक्षानुमानाग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गृह्यते। अपि चोक्तम्(५)—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं(६) दोषक्षयाद्विदुः। क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥

स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥ इति।

(७)एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति। षट् प्रमाणानि जैमिनिः। अथ कानि तानि प्रमाणानि? 'अर्थापत्तिः सम्भवः अभावः प्रतिभा ऐतिह्यम् उपमानं च' इति षट् प्रमाणानि। तत्रार्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टा श्रुता च। तत्र दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव। श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते रात्रौ भुङ्क्त इति। सम्भवो यथा—प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते। अभावो नाम प्रागितरेतरात्यन्तसर्वाभावलक्षणः। प्रागभावो यथा—देवदत्तः कौमारयौवनादिषु(८)। इतरेतराभावः-पटे घटाभावः। अत्यन्ताभावः-खरविषा-

---

(१) प्रमेयोद्देशानन्तरम्। प्रमाणनिरूपणे सङ्गतिमाह एवमिति। (२) तद्दर्शयति विभागलक्षणाभ्यां दृष्टमितीति शेषः। (३) प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं प्रसिद्धत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाच्चात्रोद्देशप्रकरणे नोक्तम्। (४) आप्ता रागद्वेषरहिता सनत्कुमाराद्यः, श्रुतिर्वेदस्ताभ्यां उपदिष्टं तथेति श्रद्धेयमाप्तवचनमिति माठरः। (५) अतएवोक्तमित्यर्थः। (६) आप्तवचनं लक्षयित्वा तद्घटितमाप्तत्वं निर्वक्ति आप्तमिति। (७) सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति कारिकांशं व्याचष्टे एतेष्विति। सिद्धानि—अन्तर्भूतानि। (८) कुमारदेवदत्ते युवा भविष्यतीति यौवनप्रागभाव इत्यर्थः।

प्रतिविषयाध्यावसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

णवन्ध्यासुतखपुष्पवदिति । सर्वाभावः-प्रध्वंसाभावो दग्धपटवदिति । यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते । (१)एवमभावोऽनेकधा । प्रतिभा यथा-'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम् । पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः ।' एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते, प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति(२) । ऐतिह्यं यथा-ब्रवीति लोको यथाऽत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसतीत्येव ऐतिह्यम् । उपमानं यथा = गौरिव गवयः, समुद्र इव तडागः । एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि । तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता(३), सम्भवाभावप्रतिभैतिह्योपमाश्चाप्तवचने । तस्मात् त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, तदाह-तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिर्भवतीति(४) वाक्यशेषः । प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि । प्रमेयं प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि पुरुष इति, एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञा इत्युच्यन्ते, तत्र किंचित् प्रत्यक्षेण साध्यं किञ्चिदनुमानेन किञ्चिदागमेनेति त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ४ ॥

तस्य किं लक्षणमेतदाह—प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टं, प्रत्यक्षमित्यर्थः । त्रिविधमनुमानमाख्यातं-पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति । पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववद्, यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति पूर्वदृष्टत्वात् । शेषवत् यथा—समुद्रादेकं जलपलं (५)लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवण-

---

(१) यथा-प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरत्यन्तान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्, एवं विशिष्टाभावद्वित्वावच्छिन्नाभावसामान्याभावभेदेनाप्यभावस्यानेकविधत्वं विभावनीयम् । (२) इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थभानं सा प्रतिभा सैव च प्रातिभमार्षापरपर्यायं ज्ञानमिति प्रशस्तपादाचार्याः । (३) जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिःसत्त्वकल्पनमर्थापत्तिरभिमता मीमांसकानाम्, किन्तु देवदत्तो बहिःसत्तावान् जीवित्वे सति गृहेऽसत्वादहमिवेति व्यतिरेक्यनुमान एव तस्या अन्तर्भाव इत्यर्थः । सम्भवेति । अत्र सम्भवाभावयोरनुमानप्रत्यक्षान्तर्भावस्य सकलदार्शनिकमतसम्मतत्वादाप्तवचनेऽन्तर्भावश्चिन्त्यः । (४) दृष्टादित्रिविधप्रमाणेऽर्थापत्त्यादिप्रमाणान्तर्भावो भवतीत्यर्थः । (५) पलपरिमाणं जलमित्यर्थः । लवणं-क्षारम् ।

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥
अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

भाव इति । सामान्यतोदृष्टम्—देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तं दृष्टम् गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमानयमिति तद्वच्चन्द्रतारकमिति, तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति(१), एतत्सामान्यतोदृष्टम् । किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति, तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं, यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा—दण्डेन यतिः । लिङ्गिपूर्वकं च, यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा—दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति(२)। आप्तश्रुतिराप्तवचनं च । आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः(३), तदुक्तमाप्तवचनमिति । एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ५ ॥

"तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम्" उच्यते-सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणामिन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां सिद्धिः । प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्येते,—यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणम्, यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति, यतश्चाचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽन्योऽधिष्ठाता पुरुष इति । व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्, तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्—यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस' इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

अत्र कश्चिदाह "प्रधानं पुरुषो वा नोपलभ्यते यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति तस्मात् तावपि न स्तः, यथा द्वितीयं शिरस्तृतीयो बाहुरिति" । (४)तदुच्यते—अत्र

---

(१) अत्र अयं देशो भविष्यद्वृष्टिमान् मेघोन्नतिमत्वात् तद्देशवत्, समुद्रजलं क्षारमुदधिजलत्वादुद्धृततज्जलवत्, चन्द्रतारकं गतिमत् देशान्तरप्राप्तिमत्वाच्चैत्रवदिति क्रमेण त्रिविधस्यानुमानस्य प्रयोगा द्रष्टव्याः । (२) लिङ्गं व्याप्यं, लिङ्गी व्यापकं, लिङ्गलिङ्गिपदेन प्रत्ययोपलक्षणम्, लिङ्गिग्रहणावृत्त्या च लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानं दर्शितम्, तेन व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यलक्षणमिति मिश्राः । (३) द्वन्द्वसमासेन वेदवाक्यानामार्षाणां वाक्यानां च स्वतःप्रमाणत्वमुद्घोषितं तन्मूलत्वाच्चेतरेषां प्रमाणत्वमिति । (४) तत्रोच्यत इत्यर्थः । अत्र-जगति ।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च ॥ ८ ॥
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति । तद् यथा—इह सतामप्यर्थानामतिदूराद-नुपलब्धिर्दृष्टा यथा—देशान्तरस्थानां चैत्रमैत्रविष्णुमित्राणाम् । समीप्याद् यथा—चक्षुषोऽञ्जनानुपलब्धिः । इन्द्रियाभिघातात् यथा—बधिरान्धयोः शब्द-रूपानुपलब्धिः । मनोऽनवस्थानाद् यथा—व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधा-रयति । सौक्ष्म्याद् यथा—धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते । व्यवधानाद् यथा—कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते । (१)अभिभवाद् यथा-सूर्यतेजसाऽभिभूताः ग्रहनक्षत्रतारकादयः नोपलभ्यन्ते । समानाभिहाराद् यथा-मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते समानद्रव्यमध्याहृतत्वात् । एवमष्टधानुपलब्धिः सतामर्थानामिह इष्टा ॥

(२) 'एवं चास्ति किमभ्युपगम्यते प्रधानपुरुषयोरप्येतयोर्वानुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः' । तदुच्यते—सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः, प्रधानस्येत्यर्थः, प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः सन्तोऽपि नोप-लभ्यन्ते । कथं तर्हि तदुपलब्धिः ? कार्यतस्तदुपलब्धिः । कार्यं दृष्ट्वा कारण-मनुमीयते । अस्ति प्रधानं कारणं यस्येदं कार्यम्, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम् । तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपम्—प्रकृतिः प्रधानं तस्य विरूपं प्रकृतेरसदृशम्, सरूपं च समानरूपं च, यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यश्च । येन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिष्टा-द्वक्ष्यामः(३) ॥ ८ ॥

'यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सदुताहोस्विदसत् आचार्यविप्रतिपत्तेरयं

---

(१) बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः । (२) शङ्कते एवमिति । अष्टधाऽनुपलब्धिर्वर्तताां तथाप्येतेषु केन हेतुना प्रधानपुरुषयोरनुपलब्धिः, केन वा हेतुना तयोरनुपलब्धावपि सिद्धिर्भवतीति शङ्काकर्तुराशयः । (३) हेतुमदनित्यम्, त्रिगुणमविवेकीति कारिकाद्वय इत्यर्थः ।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

संशयः,(१) यतोऽत्र सांख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धादीनामसत्कार्यम्, यदि सदसन्न भवत्यथासत्सन्न भवतीति विप्रतिषेधः' । तत्राह—असदकरणात् । न सदसदसतोऽकरणं तस्मात्सत्कार्यम्, इह लोकेऽसत्करणं नास्ति यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः, तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्, अतः सत्कार्यम् । किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात्, उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात्, इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च सर्वसम्भवाभावात्, सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुवर्णस्य रजतादौ तृणपांशुसिकतासु(२) । तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत् कार्यम् । इतश्च शक्तस्य शक्यकरणात्—इह कुलालः शक्तो मृद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणोपकरणं वा शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च कारणभावाच्च सत्कार्यम् । कारणं यल्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः व्रीहिभ्यो व्रीहयः, यदाऽसत्कार्यं स्यात् ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युर्न च (३)सन्तीति, तस्मात् सत्कार्यम् । एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादिलिङ्गमस्ति, तस्मात् सत उत्पत्तिर्नासत इति ॥ ९ ॥

'प्रकृतिविरूपं सरूपं च यदुक्तं तत् कथमिति' उच्यते—व्यक्तं महदादिकार्यम् । हेतुमदिति । हेतुरस्यास्ति हेतुमत्, उपादानं हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः, व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमत् । व्यक्तं भूतपर्यन्तम्, हेतुमद् बुद्धितत्त्वं प्रधानेन, हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण, आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्, वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्, तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्, आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः, पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती, एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत् । किञ्चान्यत् अनित्यं, यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते, यथा मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः स चानित्यः । किञ्चाव्यापि, असर्वगमित्य-

(१) आचार्यविप्रतिपत्तिमेवाह यत इति । विप्रतिपत्तिबीजं प्रदर्शयन्नाह पूर्वपक्षी यदीति । (२) अत्र चकारोऽपेक्षितः, अथवा तैलस्येति शेषोऽत्र कर्तव्यः । (३) न भवन्तीत्यर्थः ।

र्थः, यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ नैवं व्यक्तम्। किञ्चान्यत् सक्रियं, संसारकाले संसरति-त्रयोदशविधेन (१)करणेन संयुक्तं सूक्ष्मं शरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्। किञ्चान्यत् (२)अनेकं, बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति। किञ्चान्यत् आश्रितम्, स्वकारणमाश्रयते, प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानीति। किञ्च लिङ्गं लययुक्तं, लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे स च बुद्धौ सा च प्रधाने लयं यातीति। तथा सावयवम्, अवयवाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह(३)। किञ्च परतन्त्रं, नात्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रतन्त्राणि पञ्च महाभूतानि च। एवं परतन्त्रं परायत्तं व्याख्यातं व्यक्तम्।

अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः-विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरीतमव्यक्तम्, हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्, न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति, यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्मादहेतुमदव्यक्तम्। तथाऽनित्यं च व्यक्तं नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्, न हि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं(४) प्रधानम्। किञ्चाव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानं सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमक्रियमव्यक्तं सर्वगतत्वादेव। तथाऽनेकं व्यक्तमेकं प्रधानं कारणत्वात्, त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम्। तथाश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, अलिङ्गमव्यक्तं नित्यत्वात्, महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्। तथा सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्रधाने सन्ति(५)। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं प्रभवत्यात्मतः ॥ १० ॥

---

(१) बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रीण्याभ्यन्तरकरणानि बुद्धिकर्मभेदेन दशविधानि इन्द्रियाणि बाह्यानीत्येवं वक्ष्यमाणत्रयोदशकरणेनेत्यर्थः। (२) प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात्पृथिव्याद्यपि शरीरघटादिभेदादनेकविधमेवेति मिश्राः। (३) अवयवावयविसंयोगविशिष्टमिति तत्त्वकौमुदीकारः। (४) इत्यस्माद्धेतोः प्रधानमव्यक्तमुच्यत इत्यर्थः। (५) पृथिव्यादीनां परस्परसंयोगेऽपि प्रधानस्य न बुद्ध्या

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथाप्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते (१)यदुक्तं 'सरूपं च' । त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति । अविवेकि व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति, इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्व इति यथा, ये गुणास्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते च गुणा इति । तथा विषयो व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः, सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात् । तथा सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात् । अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान् न चेतयतीत्यर्थः । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं, तद् यथा—बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः, एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति । तत्र त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्, इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति, यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति । तथाऽविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः अन्यत् प्रधानमेवं विवेक्तुं न याति तदविवेकि प्रधानम् । तथा विषयो व्यक्तं प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वात् विषय इति । तथा सामान्यं व्यक्तं प्रधानमपि, सर्वसाधारणत्वात् । तथाऽचेतनं व्यक्तं प्रधानमपि सुखदुःखमोहान् न चेतयतीति, कथम् ? अनुमीयते—इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते । तथा प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानमपि प्रसवधर्मि, यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते । एवं प्रधानमपि व्याख्यातम् ।

इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते । तद्विपरीतस्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः पुमान् । तद् यथा—त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः । अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः । तथा विषयो व्यक्तमव्यक्तं च, अविषयः पुरुषः । तथा सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः । अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः, सुखदुःखमोहांश्चेतयति सञ्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुष इति । प्रसवधर्मि व्यक्तं प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः,

---

दिभिः संयोगस्तादात्म्यात्, नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरभावादिति मिश्राः ।

(१) यस्मादित्यर्थः ।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

न हि किञ्चित् पुरुषात् प्रसूयते । तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति । (१)तदुक्तं 'तथा च पुमान्' इति । तत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद् यथा व्याख्यातं तथा च पुमान्, तद् यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं, तथा च पुमानहेतुमान्, अनुत्पाद्यत्वात् । अनित्यं व्यक्तं नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान् । अव्यापि व्यक्तं व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव । अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः(२) । आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा च पुमाननाश्रितः । लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानं, तथा च पुमानप्यलिङ्गः—न क्वचिल्लीयत इति । सावयवं व्यक्तं निरवयवमव्यक्तं तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति । किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्, व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च त्रिगुणमविवेकीत्यादि प्रकृतार्यायां(३) व्याख्यातम् । यत्र यदुक्तं 'त्रिगुणमिति व्यक्तमव्यक्तं च' तत् के ते गुणा इति तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह—प्रीत्यात्मका अप्रीत्यात्मका विषादात्मकाश्च, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः । तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वं, प्रीतिः सुखं तदात्मकमिति । अप्रीत्यात्मकं रजः, अप्रीतिर्दुःखम् । विषादात्मकं तमः, विषादो मोहः । तथा प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अर्थशब्दः सामर्थ्यवाची, प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः । प्रवृत्त्यर्थं रजः, प्रवृत्तिसमर्थमित्यर्थः । नियमार्थं तमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः । प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा इति । तथाऽन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्त-

(१) अत्र व्यक्ताव्यक्ताभ्यां वैधर्म्यमभिधायाव्यक्तसाधर्म्यमाहेति अपेक्षितम् एतदेव विवृणोति तदिति । (२) एक इति, चिन्त्यमिदं पुरुषबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा चैकत्वं विहाय अहेतुमत्त्वनित्यत्वव्यापकत्वनिष्क्रियत्वानाश्रितत्वालिंगत्वनिरवयवत्वस्वतन्त्रत्वादिधर्मवत्वेन पुरुषस्य प्रधानसाधर्म्यमनेकत्वं च व्यक्तसाधर्म्यमिति अत्र व्याख्या युक्तेति विभावनीयम् । (३) अत्र प्रकृतार्यायामिति युक्तः पाठः,

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलश्च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

यश्च। अन्योन्याभिभवाः अन्योन्याश्रयाः अन्योन्यजननाः अन्योन्यमिथुनाः अन्योन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः। अन्योऽन्याभिभवा इति—अन्योऽन्यं परस्परमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिधर्मैराविर्भवन्ति, यथा यदा सत्त्वमुत्कुटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते(१), यदा रजस्तदा सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण, यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति। तथाऽन्योन्याश्रयाश्च द्व्यणुकवद्गुणाः (२)। अन्योन्यजननाः—यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति (३)। तथाऽन्योन्यमिथुनाश्च (४)—यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः। उक्तं च—

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः। रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे। उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते॥

परस्परसहाया इत्यर्थः। अन्योन्यवृत्तयश्च परस्परं वर्तन्ते 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इति वचनात्। यथा सुरूपा सुशीला स्त्री सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति, एवं सत्त्वं रजस्तमसोर्वृत्तिहेतुः। यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने दुष्टनिग्रहे शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च, एवं रजः सत्त्वतमसोर्वृत्तिं जनयति। तथा तमः स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्त्वरजसोर्वृत्तिं जनयति, यथा मेघाः समावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्ट्या कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम्, एवमन्योन्यवृत्तयो गुणाः॥ १२॥

किञ्चान्यत्—सत्त्वं लघु प्रकाशकं च, यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदा लघून्य-

---

अथवा प्रकृतिसम्बन्धिन्यामित्यर्थेनायमपि समीचीन एव, प्रकृत्य प्रस्तुत्येति वा।
(१) आविर्भवति, इदमग्रिमवाक्यद्वयेप्यनुषञ्जनीयम्। (२) यथा द्व्यणुकाः परस्परं परमाण्वाश्रितास्तथैते गुणा अपीत्यर्थः। सत्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य प्रकाशयति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवर्तयति, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमयति, त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति माठरः। (३) अत्र 'जननं' गुणानां सदृशरूपो परिणामो ग्राह्यः, सांख्यमते आरम्भरूपस्य तस्यासंभवादिति बोध्यम्। (४) अन्योन्यमिथुनवृत्तयः, अविनाभाववृत्तय इति मिश्राः। एतन्मते वृत्तिपदस्य

२-६

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

ङ्गानि बुद्धिप्रकाशश्च प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति । उपष्टम्भकं चलं च रजः, उपष्टभ्नातीत्युपष्टम्भकमुद्द्योतकं, यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं रजोवृत्तिः । तथा रजश्च चलं दृष्टं, रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति । गुरु वरणकमेव तमः, यदा तम उत्कटं भवति तदा गुरूण्यङ्गान्यावृतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थासमर्थानि, अत्राह(१) 'यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः स्वमते नैव कमर्थं निष्पादयन्ति, तर्हि कथं!' (२) प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः, प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्, अर्थतः(३) साधना वृत्तिरिष्टा, यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्तिसंयोगादर्थप्रकाशान् जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति ॥ १३ ॥

अन्तरप्रश्नो भवति–'त्रिगुणमविवेकि विषय इत्यादिना प्रधानं व्यक्तं च व्याख्यातं, तत्र प्रधानमुपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते' ? तत्राह–योऽयमविवेक्यादिर्गुणः स त्रैगुण्यात् । 'महदादौ व्यक्ते नायं सिध्यति' अत्रोच्यते तद्विपर्ययाभावात्, तस्यवि पर्ययस्तद्विपर्ययस्तस्याभावस्तद्विपर्ययाभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्(४) । यथा यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ? तद्विपर्ययाभावात् । एवं व्यक्ताव्यक्तसम्पन्नो भवति(५), दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाभावात् । इतश्चाव्यक्तं सिद्धं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य, लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति । एवं महदादिलिङ्गमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि, यदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यान्योन्याभिभववृत्तय इत्यादिचतुर्णां भेदोदाहरणानि बोध्यानि ।

(१) पूर्वपक्षीत्यर्थः ।

(२) समाधत्ते प्रदीपवदिति ।

(३) पुरुषार्थवशादित्यर्थः ।

(४) अत्रैगुण्याभावाद् अव्यक्तमविवेक्यादिगुणवदिति सिद्धमित्यर्थः ।

(५) अविवेक्यादिर्गुण इति शेषः ।

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥ १५ ॥

"त्रैगुण्यादविवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्, एवं कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति" इति न वाच्यम्, सतोऽपि पाषाणगन्धादेरनुपलम्भात्, एवं प्रधानमप्यस्ति किन्तु नोपलभ्यते, तदाह—कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः । भेदानां परिमाणात्—लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं यथा कुलालः परिमितैर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति, एवं महदपि महदादिलिङ्गं परिमितं भेदतः, प्रधानकार्यमेका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीत्येवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं यद् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति, यदि प्रधानं न स्यात्, तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम् । तथा समन्वयात् इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, यथा व्रतधारिणं बटुं दृष्ट्वा समन्वयति(१) नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति, एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् कारणं (२)भविष्यतीति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम् । तथा शक्तितः प्रवृत्तेश्च—इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं रथं वा । तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः ? कारणकार्यविभागात्—करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यम्, कारणस्य कार्यस्य च विभागो यथा—घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो न तथा तत्कारणं मृत्पिण्डः, मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति न चैवं घटो मृत्पिण्डम्, एवं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वानुमीयते—अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्तमिति(३) । इतश्च अविभागाद्वैश्वरूपस्य—विश्वं जगत्, तस्य रूपं व्यक्तिः, विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप्यं, तस्याविभागादस्ति प्रधानं, यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति

(१) समानरूपं कारणं साधयति । (२) तत्त्रिगुणं भविष्यतीत्यर्थः । (३) कारणे कार्यस्य सत्त्वाद्यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते, एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाविर्भवन्ति विभज्यन्ते, तथा पृथिव्यादीन्यपि तन्मात्रादिरूपकारणादाविर्भवन्ति विभज्यन्त इति

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति एतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले सृष्टिक्रमेणैवाविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणामिषु तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे अहङ्कारो बुद्धौ बुद्धिः प्रधाने, एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृतावविभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद् (१) व्यक्ताव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम् ॥ १५ ॥

अतश्च अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति यस्मान्महदादिलिङ्गं प्रवर्तते । त्रिगुणतः त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम् । तत् किमुक्तं भवति? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् (२)। तथा समुदयात्, यथा गङ्गास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्द्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति, यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते । "(३)यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्"। नैष दोषः, परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् । एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ता, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन, एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद्भवति, प्रतिप्रतीति वीप्सा, गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषस्तं गुणाश्रयविशेषं प्रति-

---

अव्यक्तपर्यन्तं स्वस्वकारणाद्विभाग इति मिश्राः । (१) प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो निविशमानास्तिरोभवन्ति, तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तकार्यापेक्षयाऽव्यक्तमिति व्यवह्रियते, एवं पृथिव्यादयोऽपि तन्मात्रादिकारणं विशन्तः स्वस्वकारणमव्यक्तयन्तीति सोऽयमविभागो वैश्वरूप्यस्य कार्यस्येति वाचस्पतिमतम् ।

(२) परिणामस्वभावानां गुणानां क्षणमपि परिणामं विहायावस्थानाऽसंभवात्सत्वादिरूपतया प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति मिश्राः । प्रधाने सत्वादीनामवस्थानात् बहुत्वसंभवात्त्रिगुणतः प्रवृत्तिस्त्रिधा व्यवहारोऽतो एकस्मात्तन्तोः पटासंभववत्कथमेकं प्रधानमनेककार्यजनकमिति निरस्तमिति माठरः ।

(३) शङ्कते यस्मादिति । एकरूपात्कारणात्कथं विचित्रकार्योत्पत्तिरिति शङ्काभिप्रायः । समाधत्ते नैष इति ।

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

निधाय(१)प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तं, यथा-आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद्भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः(२)एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्त्वतमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः ॥१६॥

एवमार्याद्वयेन प्रधानस्यास्तित्वमवगम्यत, इतश्चोत्तरं पुरुषास्तित्वप्रतिपादनार्थमाह । यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगत व्यक्तवत्, पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याधुनानुमितास्तित्वं प्रतिक्रियते (३)। अस्ति पुरुषः, कस्मात्? संङ्घातपरार्थत्वात्—योऽयं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्, यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलकपादपीठतूलीप्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो न हि स्वार्थः, पर्यङ्कस्य न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति, अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम्, (४)इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादिसङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति । इतश्चात्मास्ति—त्रिगुणादिविपर्ययात् । यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि, तस्माद्विपर्ययात, येनोक्तं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्। अधिष्ठानात्, यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति(५)। तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'। अतोऽस्त्यात्मा—भोक्तृत्वात् । यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते(६) एवं महदादिलिङ्गस्य भोक्तृत्वाभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति । इतश्च कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च—

(१) अवलम्ब्य। (२) नारिकेलताल तालीविल्वचिरविल्वतिन्दुकामलककपित्थफलाश्रितैस्तत्तद्रसैरित्यर्थः। (३) अनुमानेनास्तित्वं प्रतिष्ठाप्यत इत्यर्थः।
(४) पर्यङ्कवदिति दृष्टान्ते परार्थत्वं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिके तत्साधयति इदमिति ।
(५) अत्र शरीरं प्रयत्नवदात्माधिष्ठितं चेष्टावत्त्वात् रथवदित्यनुमानप्रयोगो द्रष्टव्यः।
(६) अन्नस्य भोक्तृत्वाभावाद्भोग्यत्वेन भोक्ता देवदत्तादिः यथा साध्यत इत्यर्थः ।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥
तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

केवलस्य भावः कैवल्यं तन्निमित्तं या च प्रवृत्तिस्तस्याः स्वकैवल्यार्थं प्रवृत्तेः(१) सकाशादनुमीयते—अस्त्यात्मेति, यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीराद् व्यतिरिक्तः ॥ १७ ॥

'अथ स किमेकः सर्वशरीरेऽधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत् आहोस्विद् बहव आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार' इत्यत्रोच्यते—जन्म च मरणञ्च करणानि च जन्ममरणकरणानि तेषां प्रतिनियमात्, प्रत्येकनियमादित्यर्थः । यद्येक एव आत्मा स्यात् तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्यान्धत्वमूकत्वकुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि बधिरान्धमूककुणिखञ्जाः स्युः, न चैवं भवति, तस्माज्जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्(२) पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । इतश्च अयुगपत्प्रवृत्तेश्च, युगपदेककालं न युगपदयुगपत् प्रवर्तनं, यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽन्ये ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च बहव इति सिद्धम् । किञ्चान्यत् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव, त्रिगुणभावविपर्ययाच्च पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः सुखी, अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान्, एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति ॥ १८ ॥

अकर्ता पुरुष इत्येतदुच्यते-(३) तस्माच्च विपर्यासात्, तस्माच्च यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्—निर्गुणः पुरुषो विवेकी भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति(४), गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तत एव । किञ्चान्यत् कैवल्यं केवलभावः, कैवल्यमन्यत्वमित्यर्थः, त्रिगुणेभ्यः

---

(१) मुमुक्षूणां शास्त्राणां चेति शेषः । (२) व्यवस्थातः, अतएवोक्तं न्यायसूत्रे 'व्यवस्थातो नानेति' । (३) पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाहेति मिश्रः । (४) यः पुरुषः 'पुरुषबहुत्वं सिद्ध'मित्यत्रोद्दिष्ट इत्यर्थः ।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ २०॥
पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१॥

केवलोऽन्यः(१)। माध्यस्थ्यं मध्यस्थभावः, परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः। यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते। तस्माद् द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च, यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद्द्रष्टा तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणामिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते न पुरुषः, एवं पुरुषस्यास्तित्वं च सिद्धम्॥ १९॥

'(२)यस्मादकर्ता पुरुषस्तत्कथमध्यवसायं करोति धर्मं करिष्याम्यधर्मं न करिष्यामीत्यतः कर्ता भवति, नच कर्ता पुरुष एवमुभयथा दोषः स्यादिति', अत उच्यते—इह पुरुषश्चेतनावान् तेन चेतनावभाससंयुक्तं महदादिलिङ्गं चेतनावदिव भवति, यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्णः, एवं महदादि लिङ्गं तस्य संयोगात् पुरुषसंयोगाच्चेतनावदिव भवति, तस्माद् गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति न पुरुषः। यद्यपि लोके पुरुषः कर्ता गन्तेत्यादि प्रयुज्यते तथाप्यकर्ता पुरुषः। कथम्? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। गुणानां कर्तृत्वे सति उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति, न कर्ता। अत्र दृष्टान्तो भवति-यथाऽचौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्त्ता भवति कर्तृसंयोगात्। एवं व्यक्ताव्यक्तज्ञानां विभागो विख्यातः, (३)यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरिति॥ २०॥

'अथैतयोः प्रधानपुरुषयोः किंहेतुः सङ्घातः' उच्यते-पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थं-प्रकृतिं महदादिकार्यं भूयपर्यन्तं पुरुषः पश्यति एतदर्थम्,

---

(१) अत्रैगुण्याचास्य कैवल्यम्, आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम् तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात्सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धमिति मिश्राः। (२) आक्षिपति यस्मादिति। पुरुषस्याकर्तृत्वाङ्गीकारेऽध्यवसायानुपपत्तिस्तदुपपत्तावकर्तृत्वस्य सांख्यमतसिद्धस्यानुपपत्तिरित्युभयतः पाशारज्जुरित्याशयः। (३) व्यक्ताव्यक्तज्ञविवेकात्।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

प्रधानस्यापि पुरुषेण संयोगः कैवल्यार्थम् , स च संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः, यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्ध एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य(१)स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः, स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ पुनस्तयोः स्ववचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति, अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं शरीरारूढपङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धो याति पङ्गुश्चान्धस्कन्धारूढः, एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति पङ्गुवन्न क्रिया, प्रधाने क्रिया-शक्तिरस्त्यन्धवन्न दर्शनशक्तिः । यथावाऽनयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति । किञ्चान्यत् तत्कृतः सर्गः, तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः सृष्टिः, यथा स्त्रीपुरुष-संयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषसंयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः ॥ २१ ॥

इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह—प्रकृतिः प्रधानं ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं मायेति पर्यायाः । अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महानुत्पद्यते—महान् बुद्धिरासुरी मतिः ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते । तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते, अहङ्कारो भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः । तस्माद्गणश्च षोडशकः, तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते, स यथा—पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्र-सूक्ष्मपर्यायवाच्यानि, तत एकादशेन्द्रियाणि श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्म-कमेकादशं मनश्च, एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते । किञ्च पञ्चभ्यः पञ्च-भूतानि, तस्मात् षोडशकाद्गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महा-भूतान्युत्पद्यन्ते । यदुक्तं—(२)शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपत-न्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥

(१) धनिकयूथस्य (२) सांख्यसमाससूत्रेषु ।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥ २३॥

यदुक्तं 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र महदादिभूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम्, अव्यक्तमपि भेदानां परिमाणात्—इत्यादिना व्याख्यातं, पुरुषोऽपि सङ्घातपरार्थत्वात् इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः। एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, यस्तैस्त्रैलोक्यं व्याप्तं जानाति तस्य भावोऽस्तित्वं तत्त्वं(१), यथोक्तम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

तानि यथा—प्रकृतिः पुरुषो बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इत्येतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि। तत्रोक्तप्रकृतेर्महानुत्पद्यते, तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह—अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम्। अध्यवसानमध्यवसायः, यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुरस्तद्वदध्यवसायोऽयं घटोऽयं पट इत्येवम् अध्यवस्यति या सा बुद्धिरिति लक्ष्यते(२)। सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका सात्त्विकतामसरूपभेदात्। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति—धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं चेति। तत्र धर्मो नाम दयादानयमनियमलक्षणः,(३) तत्र यमा नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः,' 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। (४)ज्ञानं प्रकाशोऽवगमो भानमिति पर्यायाः, तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति। तत्र बाह्यं नाम वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाख्यषडङ्गसहिताः पुराणानि न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति। आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम्—इयं प्रकृतिः सत्त्वरज-

(१) मुक्तिरित्यर्थः। (२) अध्यवसायो बुद्धिरिति क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षयेदम्। सर्वो हि व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽत्राहमधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेति यदध्यवस्यति, तत्र योऽयं कर्तव्याकारो निश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया इव बुद्धेर्धर्मः सोऽध्यवसायो बुद्धेर्लक्षणमिति मिश्राः। (३) अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्धर्मः, तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजन्योऽभ्युदयहेतुरष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुरिति तत्वकौमुदी। (४) एवमप्रसिद्धौ यमनियमावभिधाय धर्मानन्तरं क्रमप्राप्तं ज्ञानं निरूपयति ज्ञानमिति।

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

स्तमसां साम्यावस्थाऽयं पुरुषः सिद्धो निर्गुणो व्यापी चेतन इति । (१)तत्र बाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः । आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः । वैराग्यमपि द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं दृष्टविषयवैतृष्ण्यमर्जनरक्षणक्षय-सङ्गहिंसादोषदर्शनात् विरक्तस्य, मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्(२) । ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्चाष्टगुणम्—अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमी-शित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वं चेति । अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति(३) । महिमा महान् भूत्वा विचरतीति । लघिमा मृणालीतूलावय-वादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति(४) । प्राप्तिरभिमतं वस्तु यत्र तत्रा-वस्थितः प्राप्नोति(५) । प्राकाम्यं प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति(६) । ईशित्वं प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे । वशित्वं सर्वं वशीभवति । यत्र कामावसा-यित्वं, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहाराना-चरतीति(७) । चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि । यदा सत्त्वेन रज-स्तमसी अभिभूते तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति । किञ्चान्यत् ताम-समस्माद्विपर्यस्तम् , अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं तामसं बुद्धिरूपम् , तत्र धर्माद्विपरीतोऽ-धर्मः, एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति । एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धि-स्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते ॥ २३ ॥

एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम् , अहङ्कारलक्षणमुच्यते(८) । एकादशकश्च गण—

(१) द्विविधसात्त्विकज्ञानफलमाह तत्रेति । (२) दृष्टादृष्टभेदेन यतमान–व्यतिरेक एकेन्द्रिय–वशीकारसंज्ञाभिश्चतुर्विधं प्रदर्शितं वाचस्पतिमिश्रैः । तत्र विषयेषु इन्द्रिया-णां परिपाचनाय प्रवृत्तिनिरासार्थो यत्नो यतमानसंज्ञा । परिपाचनानुष्ठानकाले पच्य-मानेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकावधारणं परिपाकसंज्ञा । इन्द्रियप्रवृत्त्यसमर्थतयौत्सुक्यमा-त्रस्याप्युपस्थितदृष्टादृष्टविषयेषु निवृत्तिर्वशीकारसंज्ञेति, अत एवोक्तं पातञ्जलदर्शने 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (१।१६) इति । (३) यतः शिलायामपि योगिनः प्रवेशो भवतीति । (४) यतः सूर्यमरीचीनवलम्ब्य सूर्यलोकं याति योगीति मिश्राः (५) यतश्चन्द्रमसमपि स्पृशति करेण योगीति । (६) यतो जल इव भूमावप्युन्मज्जति निमज्जति च योगी । (७) सत्यसङ्कल्पतेति मिश्राः । (८) आलोचनमननयोरन्ते तयोर्विषये योऽयं 'अहमत्राधिकृत' इत्यादिरूपेणाभि-

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

एकादशेन्द्रियाणि तथा तन्मात्रो गणः, पञ्चकः पञ्चलक्षणोपेतः शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ॥ २४ ॥

किंलक्षणात् सर्ग इत्येतदाह—(१)सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कारः सात्त्विकः, तस्य च पूर्वाचार्यैः सञ्ज्ञा कृता वैकृत इति, तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते, यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते सात्त्विक एकादशक इति। किञ्चान्यत्—भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, (२)तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता सञ्ज्ञा भूतादिः,तस्माद्भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते, (३)भूतानामादिभूतस्तमोबहुलस्तेनोक्तः स तामस इति तस्माद्भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः। (४)किञ्च तैजसादुभयम् (५)यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति सञ्ज्ञां लभते, तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते। (६)उभयमिति—एकादशो गणस्तन्मात्रः पञ्चकः। योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो वैकृतिको भूत्वा एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति, सात्त्विको निष्क्रियः स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः, तथा तामसोऽहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पादयति तेनोक्तं तैज-

---

मानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारलक्षणमित्यर्थः। उत्तरार्धं व्याचष्टे एकादशकश्चेति। ऐन्द्रिय एकादशकस्तन्मात्रपञ्चकश्चेति माठरसंमतः, एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपचकश्चेति च मिश्रसंमतः पाठोऽत्र कारिकायां द्रष्टव्यः। (१) वैकृतशब्दार्थमाह सत्त्वेनेति। (२) भूतादिशब्दस्यार्थं विवृणोति तमसेति। (३) तामसाहङ्कारकार्यस्य तन्मात्रस्य तामसत्वे युक्तिमाह भूतानामिति। उपसंहरति तस्मादिति। (४) यद्यप्येको हङ्कारस्तथापि गुणभेदोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नकार्यकारीति मिश्राः। (५) अहङ्कारस्य तैजसत्वे युक्तिमाह यदेति। (६) सात्त्विकतामसोभयविधकार्यजनने तैजसाहङ्कारस्योपोद्बलकत्वमाहोभयमितीति।

(१)बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥
उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

सादुभयमिति । (२)एवं तैजसेनाहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश पञ्चतन्मात्राणि कृतानि भवन्ति ॥ २५ ॥

सात्त्विक एकादश इत्युक्तः, यो वैकृतात् सात्त्विक एकादशकः(३) सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यते तस्य का संज्ञेत्याह—चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि (४)बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते, स्पृश्यऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते स्पर्शनकानीति(५)। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः, कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्वदति हस्तौ नाना व्यापारं(६) कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायुरुत्सर्गं करोति उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या ॥ २६ ॥

एवं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, मन एकादशकं किमात्मकं किंस्वरूपं चेति तदुच्यते—अत्रेन्द्रियवर्गे, मन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् । कस्माद्? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिं कल्पयति(७) कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः, सङ्कल्पयतीति सङ्कल्प-

(१) इन्द्रियाणां प्रकाशकत्वेन प्रकाशधर्मकसत्वगुणकार्यत्वानुमानात्सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वं पूर्वकारिकायामुक्तं, तत्र कानि पुनस्तानीन्द्रियाणीत्याह बुद्धीन्द्रियाणीति । बुद्धिसाधनानि बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मसाधनानि कर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः । (२) फलितमाहैवमिति । (३) एकादशक इन्द्रियगणः । (४) अत्र सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियसामान्यलक्षणं साङ्ख्यमतेन द्रष्टव्यम् । (५) वाचस्पत्यमतेनात्र मूले स्पर्शनेन्द्रियस्य त्वक्स्थानत्वात् 'रसनत्वगाख्यानि' इति पाठान्तरं द्रष्टव्यम् । (६) दानप्रतिग्रहाद्यात्मकम् । (७) जनयति । आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति क्रमेण चाक्षुषादिज्ञानजनने मनोधिष्ठितानामेव बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च स्वस्वविषये प्रवृत्तेर्मन उभयात्मकमिति भावः ।

कम्(१)। किञ्चान्यत् 'इन्द्रियं च साधर्म्यात्' समानधर्मभावात्, सात्त्विकाहङ्काराद्बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं प्रति(२), तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम्। एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि। तत्र मनसः का वृत्तिरिति? सङ्कल्पो वृत्तिः। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः। (३)"अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि भिन्नार्थग्राहकाणि किमीश्वरेण उत स्वभावेन कृतानि, यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्त्ते"त्यत्राह—इह सांख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति, अत्रोच्यते **गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च,** इमान्येकादशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां सङ्कल्पश्च मनसः, एवमेते भिन्नानामेवेन्द्रियाणामर्थाः, **गुणपरिणामविशेषात्**—गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाश्च। अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण नाहङ्कारेण न बुद्ध्या न प्रधानेन न पुरुषेग स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति। (४)"गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्तते"? प्रवर्तत एव। कथम्? वक्ष्यतीहैव*—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

(५)एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, (६)विशेषोऽपि तत्कृत

---

(१) इदमेवं नैवमिति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति सङ्कल्पकत्वं मनस इतरभेदकं लक्षणमित्यर्थः। (२) नियामकानीति शेषः। (३) शङ्कते अथेति। इन्द्रियाणां स्वस्यविषयग्राहकत्वमीश्वरकृतं स्वाभाविकं वा, येन स्वभावेनैव प्रधानादीनामचेतनत्वं चेतनत्वं च पुरुषस्येति शङ्कार्थः। समाधत्ते इत्यत्राहेति। स्वाभाविकमिन्द्रियाणां भिन्नार्थग्राहकत्वमिति समाधानाशयः। एतदेवोत्तरार्धेन प्रतिपादयन्नाहात्रोच्यत इति। समाधानार्थमुत्तरार्धव्याख्यानेन प्रतिपादयन्नाह इमानीति कृतगुणपरिणामेनेत्यन्तग्रन्थेन न पुरुषादि कृतमिति शेषः। (४) आक्षेप्ता पृच्छति गुणानामिति। सत्वादीनां गुणानां जडत्वात्तत्साम्यावस्थात्मकं प्रधानं न प्रवर्तते किमिति प्रश्नार्थः। समाधत्ते प्रवर्तत एवेति। (५) गुणानां प्रवृत्तिप्रकारं दृष्टान्तेन विवृण्वन्नाह एवमिति। (६) एकादशेन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रियप्रवृत्तिप्रकारोऽपि। तत्कृत एव = अचेतनगुणकृत एव।

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥
स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

एव येनोच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितम्, तथा घ्राणं तथा श्रोत्रं तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय । एवं कर्मेन्द्रियाण्यपि यथायथं स्वार्थसमर्थानि स्वदेशावस्थितानि स्वभावतो गुणपरिणामविशेषादेव, न तदर्था अपि(१), यत उक्तं शास्त्रान्तरे—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः, प्रधानं यस्य कारणमिति ॥ २७ ॥

अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते-मात्रशब्दो विशेषार्थः, अविशेषव्यावृत्त्यर्थो (२) यथा—भिक्षामात्रं लभ्यते, नान्यो विशेष इति, तथा चक्षुः रूपमात्रे न रसादिषु(३), एवं शेषाण्यपि, तद्यथा-चक्षुषो रूपं, जिह्वाया रसः, घ्राणस्य गन्धः, श्रोत्रस्य शब्दः त्वचः स्पर्शः(४)। एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता, कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। वाचो वचनं, हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं, पायोर्भुक्तस्याहारस्य परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषयो वृत्तिरिति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते(५)-स्वलक्षणस्वभावा स्वालक्षण्या(६) । अध्यवसायो बुद्धिरिति लक्षणमुक्तं सैव बुद्धिवृत्तिः, तथाऽभिमानोऽहङ्कार इत्यभिमानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च, सङ्कल्पकं मन इति लक्षणमुक्तं, तेन सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः, त्रयस्य बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वलक्षण्या च वृत्तिरसामान्या(७), या

---

(१) प्रवर्तन्त इतिशेषः । अत्र माठर मते बाह्यभेदाश्चेत्यत्र ग्राह्यभेदाश्चेति कारिकापाठः । इन्द्रियार्थैकादशभेदादपि इन्द्रियाणां भेद इति तदर्थः। (२) आलोचनमात्रमित्यत्र मात्रशब्दार्थो विशेषोऽविशेषव्यावृत्त्यर्थ इत्यत्र दृष्टान्तमाह यथेति । (३) वृत्तिं लभत इति शेषः। (४) वृत्तिविषय इति शेषः। (५) वृत्तिरिति शेषः। (६) एतन्मते माठरमतेन कारिकायां 'स्वालक्षण्या वृत्तिरिति पाठो द्रष्टव्यः। वृत्तिर्व्यापार इत्यर्थः, एतदेवाहाध्यवसाय इति। (७) असाधारणी।

प्रागभिहिता(१) बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति । इदानीं सामान्या वृत्तिराख्यायते—सामान्यकरणवृत्तिः, सामान्येन करणानां वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च, प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः सर्वेन्द्रियाणां सामान्या(२) वृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं(३) कर्म तत् त्रयोदशविधस्याऽपि(४) सामान्या वृत्तिः, सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति, प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति, प्राणनात् प्राण इत्युच्यते । तथाऽपनयनादपानः, तत्र यत् स्पन्दनं (५)तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य । तथा समानो मध्यदेशवर्त्ती य आहारादीनां सम्नयनात् समानो वायुः, तत्र यत् स्पन्दनं(६) तत् सामान्यकरणवृत्तिः । तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः, तत्रोदाने यत् स्पन्दनं(७) तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः । किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद्व्यानः, तत्र यत् स्पन्दनं तत्(८) करणजालस्य सामान्या वृत्तिरिति । (९)एवमेते पञ्च वायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता, त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्य वृत्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥

---

(१) पूर्वकारिकायामुक्ता चक्षुरादीनां स्वस्वविषयग्रहणलक्षणा वृत्तिरित्यर्थः, एवं च कारिकायां त्रयस्येति बुद्धीन्द्रियाणामुपलक्षणमेतन्मते माठरमतेऽपि, न मिश्रमते। (२) साधारणी। जीवनादिद्वारा सर्वकरणव्यापारबीजत्वात्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादिन्द्रियव्यापारस्य च तद्व्यापारान्वयानुविधायित्वाच्च प्राणादिवायुपञ्चकं साधारणी करणवृत्तिरित्यर्थः, एतदेव विवृणोति यत इत्यादिना। (३) अन्नाशनादिक्रियात्मकम्। (४) मिश्रमते तु पञ्चप्राणादिरूपा सामान्यवृत्तिस्त्रयस्यैव, 'बोध्या त्रयाणामपि करणानामि' त्युक्तेः।

(५) मलमूत्रादेरपनयनम्। (६) रसानां नाडीष्वनुरूपनयनम्। (७) रसाद्यूर्ध्वनयनव्यापारः। (८) शरीरव्यापनम्। (९) उपसंहरति एवमिति। व्यापारभेदवत् 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्यात् व्यानः सर्वशरीरगः, इत्याद्युक्तदिशा स्थानभेदस्यापि प्राणादिभेदहेतुत्वं द्रष्टव्यम्। अत्रेदं तत्वम्-'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खंवायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणीति' श्रुतौ वायुतः प्राणस्य पृथक्कीर्तनात्प्राणानां न वायुपरिणामविशेषत्वम् किन्तु संहतविहगानां पंजराचलनन्यायेन बुध्यादिभिः स्वस्ववृत्तिरजोगुणेन शरीरस्य सदा चालनात्तच्चालनरूपव्यापार एव प्राणादयो न तु पराभिमतपंचवायुभेदाः,

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे, तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

युगपच्चतुष्टयस्य, बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति, चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः, (१)बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षूंषि युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति स्थाणुरयमिति । बुद्ध्यहङ्कारमनोजिह्वा युगपद्रसं गृह्णन्ति । बुद्ध्यहङ्कारमनोघ्राणानि युगपद्गन्धं गृह्णन्ति । तथा त्वक्श्रोत्रे अपि । किञ्च **क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा**, तस्येति चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति । यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशये सति तत्रोपरूढं तल्लिङ्गं पश्यति शकुनिं वा, ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता(२) बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति, अतोऽहङ्कारश्च निश्चयार्थः,(३) स्थाणुरेवेति, इत्येवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा, यथा रूपे तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या । दृष्टे-दृष्टविषये । किञ्चान्यत् **तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः**, अदृष्टेऽनागतेऽतीते च काले बुद्ध्यहङ्कारमनसां रूपे चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः, स्पर्शे त्वक्पूर्विका गन्धे घ्राणपूर्विका रसे रसनपूर्विका शब्दे श्रवणपूर्विका, बुद्ध्यहङ्कारमनसामनागते भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका क्रमशो वृत्तिः, वर्त्तमाने युगपत् क्रमशश्चेति(४) ॥ ३० ॥

किन्तु बुध्यादिभिः देहचालनमेव प्राणादयः, तथा च वायुतुल्यसञ्चारवत्त्वेन वायुदेवताधिष्ठिततया वा प्राणादीनां वायुशब्दवाच्यतेति (१) बाह्येन्द्रियेषु कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य बुद्ध्यहङ्कारमनोरूपाभ्यन्तरकरणैः संयोगे चतुष्टयं जायते तस्य प्रत्यक्षजनने एकदैव व्यापारा भवन्तीत्यस्य चाक्षुषादौ क्रमेणोदाहरणमाह बुद्धीति । यथा विद्युत्संपाते स्थाणुव्याघ्रादाविन्द्रियसंनिकर्षे युगपदेव निर्विकल्पक-सविकल्पकाऽभिमाना-ऽध्यवसाया उत्पद्यन्ते, यतस्ततो झटित्यपसरतीत्यर्थः । एवंरासनादिप्रत्यक्षेऽपि द्रष्टव्यम् । (२) पुरुषकोटिव्यावर्तिका । (३) निर्णयफलकः, अध्यवसायजनक इति यावत्, ततश्च बुद्धिव्यापारोऽध्यवसायो भवतीत्याह स्थाणुरेवेति । (४) अदृष्टे परोक्षविषयेऽपि त्रयस्येन्द्रियरहितत्रयस्य युगपत्क्रमशश्च व्यापारा भवन्ति, अनुमानशब्दयोर्विषये इन्द्रियाप्रवृत्तेस्त्रयस्येत्युक्तम्, तयोर्विषये निर्विकल्पकाभावात् प्रथमं मनस एव व्यापार इति, मिश्राः । अनुमानशब्दविषये वृत्तिर्हि तत्पूर्विका दृष्टपूर्विकेति विशेषः, अनुमाने व्याप्तिज्ञानार्थं शब्दे च शक्त्यनुमानापेक्षया प्रत्ययापेक्षेति नारायणी ।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥
करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥

किञ्च—स्वां स्वामिति वीप्सा, बुद्ध्यहङ्कारमनांसि स्वां स्वां वृत्तिं परस्पराकूतहेतुकां '(१)आकूतमादरसम्भ्रमः' इति, प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थकरणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः । बुद्धिरहङ्काराकूतं ज्ञात्वा(२) स्वविषयं प्रतिपद्यते । "किमर्थमिति चेत् ?" **पुरुषार्थ एव हेतुः**, पुरुषार्थः कर्तव्य इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः, तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति, "(३)यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्त्तन्ते" ? **न केनचित् कार्यते करणम्**, पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः, न केनचित्, ईश्वरेण पुरुषेण वा, कार्यते प्रबोध्यते करणम् ॥ ३१ ॥

"बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते—**करणं त्रयोदशविधं** बोद्धव्यम्, महदादित्रयं, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वागादीनीति, त्रयोदशविधं करणम् । तत् किं करोतीत्येतदाह(४)—**तदाहरणधारणप्रकाशकरम्** । तत्राहरणं धारणं च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि(५) । कतिविधं कार्यं तस्येति तदुच्यते—**कार्यं च तस्य दशधा**, तस्य करणस्य कार्यं कर्त्तव्यमिति दशधा दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गा-

---

(१) आकूतशब्दार्थमाहाकूतेति। प्रवृत्त्युन्मुखत्वमित्यर्थः, अचेतनेष्वभिप्रायरूपस्याकूतस्यासंभवात् । (२) अनेनेन्द्रियव्यापाराधीनत्वान्मनसोऽहंकारमहतोर्मनोहंकारव्यापाराधीनत्वाच्च पूर्वोक्तो युगपद्वृत्तिपक्षो न संभवतीति पूर्वपक्षो निरस्तो वेदितव्यः । (३) आक्षेप्ता पृच्छति यदीति । यदि सांख्यमते करणान्यचेतनानि कथं तेषां प्रवृत्तिरिति प्रश्नार्थः । स्वभाववादमाश्रित्य समाधत्ते न केनचिदिति । भोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थस्यैवाचेतनकरणप्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्स्वभावतस्तेषां प्रवृत्तिरित्यर्थः; 'वत्सविवृद्धिनिमित्तमि त्यत्रैतदग्रे स्वयं विवेचयिष्यते । (४) कारकविशेषस्य करणत्वाद्व्यापारावेशं विना कारकत्वासंभवाद्व्यापारावेशमाहेत्यर्थः । (५) आहरणं कर्मेन्द्रियाणाम्, धारणं महदहंकारमनसां स्ववृत्तिप्राणादिपंचकद्वारा देहधारणात्, प्रकाशो बुद्धीन्द्रियाणां व्यापार इति मिश्रादयः ।

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

नन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्यं, बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति(१) चेति ॥ ३२ ॥

किञ्च—अन्तः करणमिति । बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिविधं महदादिभेदात् (२), दशधा बाह्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च दशविधमेतत् कर बाह्यम्, तत्त्रयस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं बुद्ध्यहङ्कारमनसां (३)भोग्यं साम्प्रतकालं-(४)श्रोत्रं वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति नातीतं न च भविष्यन्तं, चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति नातीतं नानागतं, त्वग्वर्त्तमानं स्पर्शं, जिह्वा वर्तमानं रसं, नासिका वर्त्तमानं गन्धं नातीतानागतं चेति । एवं कर्मेन्द्रियाणि—वाग्वर्त्तमानं शब्दमुच्चारयति(५) नातीतं नानागतं, पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते नातीतमनागतं च, पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो नातीतं नाप्यनागतं, पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतो नातीतौ नानागतौ, एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम् । त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि-बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं बुध्यते अतीतमनागतं चेति, अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च, तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीतेऽनागते (६) च, एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ॥ ३३ ॥

---

(१) मिश्रादिमते प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरमन्तःकरणत्रयमेव धारयतीति तस्यैव धार्यं कार्यं बोद्धव्यम् । (२) अभ्यन्तरवृत्तित्वादन्तःकरणमित्युच्यत इत्यर्थः । (३) व्यापारजनकम्, मनोहङ्कारबुद्धीनां व्यापारेषु बुद्धीन्द्रियव्यापारस्योपयोगात्, कर्मेन्द्रियव्यापारस्यापि ज्ञानेन्द्रियव्यापारद्वाराऽन्तःकरणव्यापारे उपयोगः, कर्मेन्द्रियव्यापारेण जनिते पदार्थे बुद्धीन्द्रियप्रवृत्त्यऽन्तःकरणप्रवृत्ते रित्यर्थः । (४) बाह्याभ्यन्तरकरणयोर्विशेषान्तरमाह साम्प्रतकालमिति । तदेव विशदयति श्रोत्रमिति । (५) नन्वयुक्तमेतत् उच्चारणविषयशब्दस्य पूर्वमसिद्धत्वेनानागतत्वात् कथं वागिन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वमिति चेत् । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति पाणिनीयानुशासननियमेन वर्तमानसमीपस्यानागतस्यापि शब्दस्य वर्तमानत्वाभ्युपगमान्न दोषः । कर्मेन्द्रियस्य वर्तमानविषयत्वं बुद्धीन्द्रियद्वारेति चन्द्रिकाकारः । (६) अनुमान शब्दसहकारेणातीतानागतविषयकम्, इन्द्रियसहकारेण वर्तमानविषयकमिति केचित् ।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि॥ ३४॥
सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥ ३५॥

इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेषमिति(१) तदुच्यते—बुद्धीन्द्रियाणि तेषां सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, सविशेषविषयं मानुषाणां, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। देवानां(२) निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति। तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये वाग्भवति शब्दविषया, देवानां मानुषाणां च वाग्वदति श्लोकादीनुच्चारयति, (३)तस्माद्देवानां मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम्, शेषाण्यपि वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसञ्ज्ञितानि पञ्चविषयाणि, पञ्च विषयाः शब्दादयो तेषां तानि पञ्चविषयाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति,(४) पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो विरहति, पाय्विन्द्रियं पञ्चलक्षणमुत्सर्गं करोति, तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति॥ ३४॥

(५) सान्तःकरणा बुद्धिः, अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः, यस्मात् सर्वं विषयमवगाहते गृह्णाति, (६)त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति, तस्मात् त्रिविधं कारणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि करणानीति (७) वाक्यशेषः॥ ३५॥

---

(१) साम्प्रतकालानां बाह्येन्द्रियाणां मध्ये केषां स्थूलशब्दादिग्राहकत्वं केषां वा सूक्ष्मशब्दतन्मात्रादिग्राहकत्वमिति विविच्यत इत्यर्थः।

(२) इदमुपलक्षणम्, ऊर्ध्वस्रोतसां योगिनां च बुद्धीन्द्रियाण्यतीन्द्रियविषयान् प्रकाशयन्तीति। (३) श्लोकाद्यात्मकं स्थूलशब्दं, न तु तन्मात्ररूपं तस्याहंकारजन्यत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वादतः सर्वेषां वागिन्द्रियं समानमेतदेवाह तस्मादिति। (४) पाण्याद्याहार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वात्पञ्चविषयत्वमित्यन्ये। (५) त्रयोदशकरणेषु बाह्येन्द्रियाणामप्राधान्यमन्तःकरणत्रयस्य प्राधान्यं च वक्तुमाह सान्तःकरणेति। (६) बाह्येन्द्रियैरुपनीतं सर्वविषयं समनोहंकारा बुद्धिर्यस्मादध्यवस्यतीत्यर्थः, तत्रापि विशेषमाह त्रिष्वपीति। द्वारि प्रधानम्। (७) शेषाणि दशेन्द्रियाणि साक्षात्परम्परया वेन्द्रियद्वारैवान्तःकरणानां विषयावगाहनाद्द्वाराण्यप्रधानानीति वाक्यशेषार्थः।

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

---

(१) किञ्चान्यत्—यानि करणान्युक्तानि एते गुणविशेषाः, किंविशिष्टाः ? प्रदीपकल्पाः प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः, परस्परविलक्षणा असदृशा भिन्नविषया इत्यर्थः । गुणविशेषा इति । गुणविशेषा गुणेभ्यो जाताः(२)। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः, (३)यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुष उपलभ्यते ३६ ॥

इदञ्चान्यत्—(४)सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु सर्वं प्रत्युपभोगमुपभोगं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्बुद्धीन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति सम्पादयति(५) यस्मात् तस्मात् सैव च विशिनष्टि प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति, प्रधानपुरुषान्तरं (६)नानात्वमित्यर्थः, सूक्ष्ममित्यनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम्, इत्थं

---

(१) अन्तकरणेष्वपि बुद्धेः प्राधान्यं वक्तुमाह किञ्चेति । करणानि बाह्याभ्यन्तरभेदेन त्रयोदश करणानीत्यर्थः । (२) सत्वरजःस्तमसां विकारा इत्यर्थः । गुणानां भेदाः सत्वाद्या येषु ते तथोक्ता इति चन्द्रिकाकारः ।

(३) यथा ग्रामाध्यक्षः कोटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे तच्च सङ्कल्प्याहंकाराय स चाभिमत्य सर्वाध्यक्षरूपायां बुद्धौ प्रयच्छतीत्यर्थः । बुद्धिस्थकरणे हेतुमाह यत इति । (४) बुद्धिरपि न स्वार्था किन्तु परार्थत्याह सर्वमिति नारायणः । कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति न तु बुद्धिरहंकाराय द्वारिणे मनसे वेत्यत आहेति मिश्राः (५) पुरुषसान्निध्यात्तच्छायापत्त्या प्राप्तचेतनेव बुद्धिस्सर्वविषयं सुखदुःखानुभवात्मकं भोगं पुरुषस्य सम्पादयतीति भावः । (६) अन्तरं विशेषं विशिनष्टि करोति, यथौदनपाकं पचतीति, करणं च प्रतिपादनम्, विद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति न तु करोतीत्यर्थः, एतेन प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्यत्वं मोक्षस्य स्यादिति परास्तम् । सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं तदन्तरमिति वाचस्पतिमिश्राः ।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥
सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था इयं बुद्धिरयमहङ्कार एतानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतान्ययमन्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यस्यावापा(१)दपवर्गो भवति ॥ ३७ ॥

पूर्वमुक्तं विशेषाविशेषविषयाणि, तत् के (२)विषयास्तान् दर्शयति—यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं, एतान्यविशेषा (३)उच्यन्ते देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः, तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते एते स्मृता विशेषाः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम्, इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतान्येते विशेषा(४) मानुषाणां विषयाः शान्ताः—सुखलक्षणा, घोरा—दुःखलक्षणा, मूढा—मोहजनकाः । (५)यथाऽऽकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति, तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति, तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति । एवं वायुर्घर्मार्त्तस्य शान्तो भवति, शीतार्त्तस्य घोरो धूलीशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ इति । एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥ ३८ ॥

अथाऽन्ये विशेषाः—(६)सूक्ष्मास्तन्मात्राणि यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्म-

---

(१) प्राप्तेः (२) विशेषाविशेषरूपा ज्ञानेन्द्रियाणां विषया इत्यर्थः ।

(३) शान्तघोरमूढत्वाद्युपभोगयोग्यत्वाभावादत एव च मात्रशब्देनैतेषां सूक्ष्मत्वं सूचितम् । ते केषां विषया इत्यत आह देवानामिति । (४) उपभोगयोग्यशान्तादिमत्त्वं विशेषत्वं स्थूलमहाभूतेष्वेवाऽतस्ते विशेषपदवाच्या इत्यर्थः । एते केषां विषया इत्याह मानुषाणामिति । (५) प्रत्येकं शान्तादिमत्त्वलक्षणस्य लक्ष्ये सङ्गतिं दर्शयति यथेति । (६) त्रिविधविशेषान्तरे प्रथमं दर्शयति सूक्ष्मा इति सूक्ष्मा इत्यन्तेन । संसारनिदानभूता लिङ्गशरीराख्याः सूक्ष्मतन्मात्रा-

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपयोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

शरीरं महदादिलिङ्गं सदा तिष्ठति संसरति च ते सूक्ष्माः, (१)तथा मातापितृजाः स्थूलशरीरोपचायका-ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावेनोदरान्तः सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति, तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाप्यायते, (२)तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृति षाट्कौशिकं (३)पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासम्भृतम् (४)आकाशोऽवकाशदानाद्वायुर्वर्द्धनात् तेजः पाकादापः संग्रहात् पृथिवी धारणात् समस्तावयवोपेतं मातुरुदरात् बहिर्भवति । एवमेते त्रिविधा विशेषाः स्युः । अत्राह—'के नित्याः के वा अनित्याः'? सूक्ष्मास्तेषां नियताः, सूक्ष्मास्तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियता नित्याः, तैरारब्धं शरीरमधर्मवशात् (५)पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु

यारब्धतया सूक्ष्मा येऽभिधीयन्ते सांख्यैः स प्रथमो विशेष इत्यर्थः । (१) द्वितीयं तृतीयं च विशेषमेकवाक्येनाह तथेति । मातापितृजशरीररूपद्वितीयविशेषस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वक्रमं दर्शयति ऋतुकाल इत्यादिना । आप्यायत इति । सूक्ष्मशरीरोपचायकत्वद्वारा मातापितृजस्य स्थूलशरीरोपचायकत्वमिति भावः ।

(२) यद्यपि सूक्ष्ममातापितृजयोः परिणाम एव स्थूलशरीरन्तथापि त्रिविधविशेषारब्धन्तदित्याह तथापीति । (३) षाट्कौशिकमिति । एवमारब्धं स्थूलशरीरं पृष्ठोदरादि षडङ्गम् इत्यर्थः । 'तच्च षडङ्गं शाखाश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर' इति सुश्रुतोक्तेः, एवं च लोमलोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जानां षट्कोशत्वं वाचस्पत्युक्तमसङ्गतमिव प्रतिभाति, एतेषां शारीरलक्षणवर्गे पाठात्, तत्रापि स्थिरपितृजलोम्नां मातृजत्वोक्तिर्मज्जायाश्च मृदुमातृजमध्यगणितायां पितृजत्वोक्तिर्मिश्रोक्ता विरुद्धैव 'गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जाहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानीति' शारीरकस्थानोक्तेः, एवं चैतन्मते शोणितशुक्रयोर्मातापितृजत्वं वाचस्पतिमते मांसादीनामित्यवधेयम् । (४) पाञ्चभौतिकत्वमेव स्फुटयति आकाश इति । शारीरिकप्राणादिसमस्तव्यापारसमर्थसकलावयवसम्पत्तिप्रयोजकत्वं पञ्चभूतानां स्थूलशरीरे प्रदर्शयति समस्तेति (५) कर्मवशादिति पाठान्तरम् ।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु, एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न यावज्ज्ञानमुत्पद्यते, उत्पन्ने ज्ञाने विद्वाञ्छरीरं त्यक्त्वा मोक्षं गच्छति, तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति। मातापितृजा निवर्त्तन्ते, तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्त्तन्ते, मरणकाले मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्य भूम्यादिषु प्रलीयते यथातत्त्वम्(१) ॥ ३९ ॥

'सूक्ष्मं च कथं संसरति ?' (२) तत्राह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति। किञ्चान्यत्—असक्तं न संयुक्तं तिर्यग्योनिदेवमानुषस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात् कुत्रचिदसक्तं पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति गच्छति। नियतम्, यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति(३)। तच्च महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। महानादौ यस्य तन्महदादि—बुद्धिरहङ्कारो मन इति, पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मपर्यन्तं तन्मात्रपर्यन्तं संसरति शूलग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान्(४)। निरुपभोगं भोगरहितं तत् सूक्ष्मशरीरं मातापितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः(५)। (६)भावैरधिवासितम् पुरस्ताद्भावान् धर्मादीन् वक्ष्यामः, तैरधिवासितमुपरञ्जितम्। लिङ्गमिति—प्रलयकाले महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं (७)प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आसर्गकालमत्र (८)वर्त्तते, प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति। पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं सूक्ष्मम् ॥ ४० ॥

---

(१) पार्थिवभागः पृथिव्यां जलभागो जल इत्यादिरीत्येत्यर्थः। (२) सूक्ष्मशरीरं विभजते इति मिश्राः। लिङ्गशरीरधर्मानाहेति नारायणी। (३) प्रत्यात्मभिन्नमिति चन्द्रिका। आ चादिसर्गादा महाप्रलयादवतिष्ठत इति तत्त्वकौमुदी। (४) महदहङ्कारमनोदशेन्द्रियतन्मात्रसमुदायरूपं सूक्ष्मं शरीरमित्यन्ये। (५) स्थूलदेहं विना सूक्ष्मस्य भोगासमर्थत्वादिति भावः। (६) ननु धर्माधर्मयोः सूक्ष्मशरीरेऽसम्भवात्कथं तन्निमित्तं सूक्ष्मस्य संसरणमत आह भावैरिति। वक्ष्यमाणधर्माधर्मादिभावानां बुद्धौ वर्तमानत्वात्तदन्वितस्य सूक्ष्मशरीरस्यापि संसारः सम्भवतीति न दोषः। वक्ष्यामः-त्रिचत्वारिंशत्कारिकायाम्। (७) बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसहितम्। (८) प्रधाने। प्रलये कुतो न संसरति सूक्ष्मशरीरमित्यत

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

'किंप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरती' त्येवं चोदिते सत्याह(१)-चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः कीलकादिभ्यो विना छाया न तिष्ठति, तैर्विना न भवति, आदिग्रहणाद् यथा शैत्यं विना नापो भवन्ति शैत्यं वाऽद्भिर्विना, अग्निरुष्णं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, तद्वदेतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, (२)विनाऽविशेषैरविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति । (३)अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते, शरीरं पञ्चभूतमयम्, वैशेषिणा शरीरेण विना क्व लिङ्गस्थानं चेति क्व एकदेहमुज्झति तदेवान्यमाश्रयति, निराश्रयमाश्रयरहितम्, लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

'किमर्थम् ?'' तदुच्यते(४)—पुरुषार्थः कर्त्तव्य इति प्रधानं प्रवर्त्तते, स च द्विविधः-शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च । शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगावाप्तिः । गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष(५) इति । तस्मादुक्तं—'पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्त्तते' इति । निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन, निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकमूर्ध्वंगमनादि, पुरस्तादेव वक्ष्या-

आह प्रकृतीति । (१) ननु तर्हि साहङ्कारेन्द्रियबुद्धित एव भोगोऽस्तु कृतं सूक्ष्मेणाप्रामाणिकेनेत्यत आह चित्रं यथेत्यन्ये । (२) अत्र जन्ममरणान्तराले बुद्धयादयः वर्तमानशरीराश्रिताः वर्तमानपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्धयादित्वात् दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्धयादिवदित्यनुमानेन मरणानन्तरं पुनः स्थूलशरीरपरिग्रहपर्यन्तं बुद्धयादीनामाधारभूतं वर्तमानं किञ्चिच्छरीरं वक्तव्यम्, दृश्यमानशरीरंच तदा बाधितमिति सूक्ष्मशरीरमवश्यं तन्मात्राख्यमङ्गीकर्तव्यमिति मिश्राः । (३) अथेति । पञ्चभूतमयं स्थूलशरीरं विशेषभूतपदवाच्यमित्यर्थः, वैशेषिणा शरीरेण सूक्ष्मेण विना, क्व लिङ्गस्थानं चेतीत्यस्य विवरणं क्वैकस्थूलदेहं त्यजति तदेव त्रयोदशविधं करणमन्यस्थूलशरीरं स्वीकरोति वा सूक्ष्ममाश्रयं विनेत्यभिप्रायः । (४) त्रयोदशविधं करणं सूक्ष्मशरीरेण सह किमर्थं किम्प्रयोजनं संसरतीत्येतदुच्यत इत्यर्थः । (५) तथा च भोगापवर्गात्मकः पुरुषार्थो हेतुः प्रयोजको यस्येति पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्तत इत्यनेन तस्य संसरणे पुरुषार्थ

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

मः(१)। प्रसङ्गेन प्रसक्त्या(२) प्रकृतेः प्रधानस्य विभुत्वयोगात्, यथा राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद् यद्यदिच्छति तत् तत् करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां(३) करोति। लिङ्गं सूक्ष्मैः परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते। कथम्? नटवत्। यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति पुनर्मानुषः पुनर्विदूषकः, एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य हस्ती स्त्री पुमान् भवति ॥ ४२ ॥

भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरतीत्युक्तम्, तत् के भावा इत्याह—भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते—सांसिद्धिकाः प्राकृताः वैकृताश्च। तत्र सांसिद्धिका यथा—भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति। प्राकृताः कथ्यन्ते,–ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्दन–सनातन–सनत्कुमारा बभूवुः, तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः(४)। तथा वैकृता यथा–आचार्यमूर्ति निमित्तं कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानाद्वैराग्यं वैराग्याद्धर्मः धर्मादैश्वर्यमिति, आचार्यमूर्त्तिरपि विकृतिरिति, तस्माद्वैकृता एते भावा(५) उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः, तामसा त्रिपरीताः,

---

एवोद्देश्यमिति सूचितम्। (१) धर्मेण गमनमूर्ध्वमिति चतुश्चत्वारिंशत्कारिकायाम्। (२) सहयोगेन सहचारभावेनेति यावत्, यदि धर्मादिना निमित्तेन नैमित्तिकेन तत्तत्स्थूलशरीरेण वा सहायोगः स्यात् न व्यवतिष्ठेत लिङ्गशरीरं किन्तु विलीयेतेति भावः।

(३) प्रधानविभुत्वसामर्थ्यवशान्निमित्तनैमित्तिकसहचारेण लिङ्गशरीरं पृथक् पृथक्स्थूलशरीरधारणं करोतीति व्यवस्थेति भावः। इदमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति कथमित्यादिना। (४) अन्ये तु भावा धर्माद्या ये सांसिद्धिकाः स्वाभाविकास्त एव प्राकृतिकाः सहोत्पन्नाः यावद्वस्तुस्थायिनो वा यथा महत्तत्त्वादहंकारादय इति। एतन्मते तु सहोत्पन्नाः सांसिद्धिकाः, उत्पन्नबुद्धितत्वशरीराणां सनकादीनां प्रकृत्योत्पन्नाः प्राकृता इति विशेषः। (५) असांसिद्धिका उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः यथा प्राचेतसादीनाम्, कदाचिद्वृत्तयो वा वैकृता इति मिश्रादयः। एतन्मतेऽपि गुरूपदेशादि-

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्त(१) मित्यत्र व्याख्याताः । एवमष्टौ धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति । अष्टौ भावाः क्व वर्त्तन्ते? दृष्टाः करणाश्रयिणः । (२) बुद्धिः करणं तदाश्रयिणः, एतदुक्तम्-'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानम्' इति । कार्यं देहस्तदाश्रयाः कललाद्या ये मातृजा इत्युक्ताः, शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः(३) कललाद्या बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो भावा(४) अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ॥ ४३ ॥

निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेनेति(५) यदुक्तमत्रोच्यते-धर्मेण(६) गमनमूर्ध्वम्, धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति, ऊर्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते, तद्यथा-ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति, तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति । (७) पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम् । किञ्च ज्ञानेन चापवर्गः,(८) अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम्, तेन निमित्तेनापवर्गो मोक्षः, ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते, परमात्मा उच्यते । विपर्ययादिष्यते बन्धः, अज्ञानं

नोत्पन्ना भावा ज्ञानादयो वैकृता इति न कश्चिद्विशेषः किन्तु त्रैविध्यद्वैविध्य एव पूर्वप्रदर्शितो विशेषो बोध्यः । (१) त्रयोविंशकारिकायाम् ।

(२) करणस्येन्द्रियादेर्भावाधिकरणत्वायोगात् करणपदस्यार्थमाह बुद्धिः करणमिति । एतदुक्तमिति । बुद्धिरूपं करणमुक्तमित्यर्थः । (३) स्थूलशरीरवृद्धिहेतुका इत्यर्थः । एता गर्भस्थस्य शरीरावस्थाः, बहिर्निर्गतस्य ता आह तथेति । (४) उक्तावस्थानां कार्याश्रयत्वे हेतुमाहान्नपानेति । कार्याश्रयिण इत्यस्यार्थमाहान्नादीति । (५) ४२ कारिकायाम् (६) धर्मेणेति । अभ्युदयहेतुना धर्माख्यभावेनोर्ध्वं स्वर्गलोकादौ गमनं भवतीत्यर्थः । एतदेवाह धर्ममिति । उपनयति प्रापयति सूक्ष्मशरीरमात्मानमिति भावः । अथवा उपयाति इति सरलं पाठान्तरमन्य पुस्तकान्तरे द्रष्टव्यम् । (७) अधस्तादित्यस्यार्थमाह पशुमृगेति । पातालादौ पश्वादिषु वाऽधर्मेण गतिर्भवतीत्यर्थः । (८) अपवर्गश्चेति । पञ्चविंशतिपदार्थतत्त्वज्ञानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिद्वारा मोक्षो भवतीत्यर्थः । ततो मोक्षात् । ज्ञानेनात्मसाक्षात्कारेण मोक्ष इत्यन्ये ।

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः॥ ४५॥
एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्॥ ४६॥

निमित्तम्, स चैष नैमित्तिकः प्राकृतो वैकारिको दाक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति (१)पुरस्ताद्, यदिदमुक्तं–'प्राकृतेन च बन्धनं तथा वैकारिकेण च। दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते'॥ ४४॥

(२)तथाऽन्यदपि निमित्तम्—यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति न तत्त्वज्ञानं तस्मादज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयो मृतोऽष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेषु लीयते न मोक्षः(३)। ततो भूयोऽपि संसरति(४)। तथा योऽयं राजसो रागः—यजामि दक्षिणां ददामि येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यद्दिव्यं मानुषं सुखमनुभवाम्येतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति। तथा ऐश्वर्यादविघातः, एतदैश्वर्यमष्टगुण(५)मणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको भवति ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते। किञ्चान्यत् विपर्ययात् तद्विपर्यासः, तस्याविघातस्य विपर्यासो विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते॥ ४५॥

---

(१) अज्ञाननिमित्तोद्भवस्स चैष बन्धः प्राकृतादिभेदेन त्रिविध इत्यग्रे वक्ष्यतीत्यर्थः। अत्र प्राचीनानां संमतिमाह प्राकृतेनेति। आत्मबुद्ध्या प्रकृत्युपासननिबन्धनः प्राकृतः, आत्मबुध्येन्द्रियोपासननिबन्धनश्च वैकारिकः, पुरुषमजानतः कामनया इष्टापूर्तकर्मानुष्ठाननिबन्धनस्तु दाक्षिणिक इत्येषां स्वरूपमन्यत्र द्रष्टव्यम्। (२) निमित्तनैमित्तिकेत्यत्रान्यदपि धर्मादिवत्तदुभयं प्रदर्शयन्नाह तथेति। (३) तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्या पुरुषज्ञस्यैव मोक्षवर्णनादन्यस्य तदभावकथनाज्ज्ञानरहितस्य विरक्तस्यापि न मोक्ष इत्याशयः। (४) दृष्टानुश्रविकविषयेष्वलंबुद्धिरूपाद्वैराग्यान्महदादिप्रकृतिपदवाच्येष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु लयो भवति ततश्च कालान्तरेण पुनः संसरति सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः। (५) अणिम-महिम-लघिम-गरिम-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व-वशित्वात्मकमष्टविधमैश्वर्यमित्यर्थः, अस्य निमित्तस्य नैमित्तिकमाह तस्मादिति।

एवं निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः, स किमात्मक इत्याह—(१)यथा एष षोडशविधो निमित्तनैमित्तिकभेदो व्याख्यात एष प्रत्ययसर्ग उच्यते । (२)प्रत्ययो बुद्धिरित्युक्ता-अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानमित्यादि, स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात् । तत्र संशयोऽज्ञानं (३)विपर्ययः । यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने स्थाणुरयं पुरुषो वेति संशयः । अशक्तिर्यथा तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं छेत्तुं न (४)शक्नोतीत्यशक्तिः । एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो (५)यथा तमेव स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमनेनास्माकमित्येषा तुष्टिः । चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढ़ां वल्लिं पश्यति शकुनिं वा तस्य सिद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति । एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत्, योऽयं सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैषम्यं विमर्दः (६)तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति ॥ ४६ ॥

---

(१) बुद्धिधर्मान्धर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान्दर्शयितुं प्रथमं तावत्समासमाहेति मिश्रा । (२) प्रत्ययशब्दार्थमाह प्रत्यय इति । प्रतीयन्ते विषया अनेनेति व्युत्पत्त्या प्रत्ययपदवाच्या बुद्धिरित्युक्ता, कुत्रेत्यत आह अध्यवसाय इति । स चोक्तो धर्मादिषोडशगणो बुद्धिसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिभेदात्संक्षेपतश्चतुर्धेति भावः । एष गणो बुद्धिजन्यो बुद्धितत्त्वे प्रविष्टो न तत्त्वान्तरम्, कार्यकारणाभेदात्तस्य च पञ्चाशद्भेदा वक्ष्यन्त इति नारायणी । (३) 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' इति योगसूत्रोक्तस्यातद्रूपप्रतिष्ठत्वस्य संशयेऽपि सत्त्वादतस्मिंस्तज्ज्ञानवत्संशयोऽपि विपर्यय इत्यर्थः, तत्र मिथ्याज्ञानस्य शुक्तिरूप्यादेः प्रसिद्धत्वात्संशयोदाहरणमाह यथेति । (४) इन्द्रियवैकल्येनेति शेषः, तथा च करणवैकल्यहेतुको बुद्धिधर्म एवाशक्तिरिति भावः । (५) आध्यात्मिक्यश्चतस्र इति वक्ष्यमाणतुष्टिसिद्धिभेदानां सामान्यतो लौकिकोदाहरणान्याह यथा तमेवेति । (६) सत्वरजस्तमसां न्यूनाधिकभावरूपं यद्वैषम्यं स एव विमर्दस्तेन बुद्धिसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्तीत्यर्थः । गुणानां वैषम्यमेकैकस्याधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतया यथाकार्यमुन्नीयेते तदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः, तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति मिश्राः ।

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥
भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

---

(१)तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति रजस्तमसी उदासीने, क्वापि रजः क्वापि तम इति भेदाः कथ्यन्ते—पञ्च विपर्ययभेदास्ते यथा–तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति, (२)एषां भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तरमेवेति । अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति करणवैकल्यात् तानपि वक्ष्यामः(३) । तथा तुष्टिर्नवधा-ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि । तथाऽष्टविधा सिद्धिः, सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि ॥ ४७ ॥

(४)एतत् क्रमेणैव वक्ष्यते, तत्र विपर्ययभेदा उच्यन्ते—तमसस्तावदष्टधा भेदः (५)प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते—सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयते प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपञ्चत-

---

(१) तमोमोहादिपञ्चविधविपर्ययादिभेदे पूर्वोक्तमेव गुणवैषम्यविमर्दरूपं हेतुमुपलक्षयन्नाह तथेति । कथ्यन्त इति । गुणवैषम्यहेतुकाः पञ्चाशत्संख्याका भेदा अवान्तरविभागेन गण्यन्त इत्यर्थः । (२) एषामेव समानतन्त्रे योगदर्शने 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा' इति पञ्चविधविपर्ययसंज्ञा । तत्र अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या 'तमः' । पुरुषबुद्ध्योरेकात्मतेवास्मिता 'मोहः' । सुखतृष्णा रागः 'महामोहः' । दुःखजिघांसा द्वेषो 'तामिस्रः' । सर्वस्य प्राणिनः स्वाभाविको मरणत्रासोऽभिनिवेशोऽ'न्धतामिस्र' इति मिश्राः । वक्ष्यते 'भेदस्तमस' इत्यग्रिमकारिकायाम् । (३) एकादशानामिन्द्रियाख्यकरणानां वैकल्यात् कुण्ठितत्वात् स्वस्वविषयग्रहणासामर्थ्यात् एकादश, बुद्धिगतानां नवतुष्टीनां विपर्यया नव, अष्टसिद्धीनां च अष्टाविति मिलित्वाऽष्टाविंशतिभेदाऽशक्तिरिति 'एकादशेन्द्रियवधा' इत्यत्र वक्ष्याम इति भावः । (४) उद्दिष्टं बुद्धिभेदानां पञ्चाशत्संख्यावत्त्वम् । (५) तमःशब्दार्थमाह प्रलय इति । विभज्यते—अज्ञानमूलकप्रलयशब्दार्थो विविच्यते । स इति । प्रकृत्याद्यष्टसु लयमात्रेणात्मानं येन मुक्तं जानाति स एषोऽज्ञानमूलकः प्रलयोष्टविधविषयत्वादष्टविधो तमोभेद इति भावः ।

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४६ ॥

न्मात्राख्यासु, तत्र लीनमात्मानं मन्यते मुक्तोऽहमिति तमोभेद एषः । अष्टविधस्य (१)मोहस्य भेदोऽष्टविध एवेत्यर्थः, यत्राष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं तत्र सक्तादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो मोह इति । दशविधो महामोहः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्च विषयाः, एवमेतेषु दशसु महामोह इति(२) । तामिस्रोऽष्टादशधा—(३)अष्टविधमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका विषया दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति विपदं नानुमोदन्ते, एषोऽष्टादशविधो विकल्पस्तामिस्रः । यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका दश विषयास्तथान्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव, किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव म्रियतेऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते सोऽन्धतामिस्र इति । एवं विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः संवृत्ता इति ॥ ४८ ॥

अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते-'भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशतिभेदा' इत्युद्दिष्टम्, तत्रैकादशेन्द्रियवधाः—(४) बाधिर्यमन्धता प्रसुप्तिरुपजिह्विका

---

(१) अष्टविधविषयस्य । कथमष्टविधत्वन्तदाह यत्रेति । (२) दिव्यादिव्यतया दशविधरंजनीयशब्दादिविषयविषयकत्वेन दशविधो महामोह इत्यर्थः । (३) तामिस्रस्याष्टादशत्वं कथन्तत्राहाष्टविधमिति । स्वरूपत उपायतया चानभिभूताः शब्दादयोऽणिमादयश्चाष्टादश रागजनकाः, देवैरुपहन्यमानाश्च द्वेषविषया भवन्तीत्यष्टादशविषयत्वात्तामिस्रोऽष्टादशविध इत्यर्थः । विषया इति । इत्यष्टादशविषयविषयस्तामिस्रस्तथाऽन्धतामिस्रोऽपि मरणदैवतोपघातादिभयजनितदुःखात्मकोऽष्टादशविध एवेत्यर्थः । इममेव विशेषमाह किन्त्वित्यादिना । (४) बाधिर्यमिति । बधिरभावः कर्णशक्तिनाश इत्यर्थः, अन्धता नेत्रशक्तिविनाशः, प्रसुप्तिः त्वक्शक्तिशून्यता, उपजिह्विका रसनाशक्तिहीनता, घ्राणपाकोऽजिघ्रता घ्राणशक्तिनाशः, मूकता वागिन्द्रियशक्तिविरहः, कुणिता कौण्यम्—कुणोऽस्यास्तीति कुणी तस्य भावः कौण्यम् करशक्त्यभावः, खाञ्जयम् पङ्गुत्वं पादशक्त्यभावः, गुदावर्तः पायुशक्त्यभावो उदावर्तापरपर्यायः, क्लैब्यं षण्ढता रतिशक्ति-

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

घ्राणपाको मूकता कुणित्वं खाञ्ज्यं गुदावर्त्तः क्लैब्यमुन्माद इति । सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा, ये बुद्धिवधास्तैः सहाशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति । (१)सप्तदश वधा बुद्धेः, सप्तदश वधास्ते तुष्टिभेदसिद्धिभेदवैपरीत्येन, तुष्टिभेदा नव सिद्धिभेदा अष्टौ ये तद्विपरीतैः सह एकादशवधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥ ४९ ॥

(२) विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनामेव भेदक्रमो द्रष्टव्यः, तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते— आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः, अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः(३), ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्ष एषा प्रकृत्याख्या(४) । उपादानाख्या यथा कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या(५) । तथा कालाख्या—कालेन मोक्षो भविष्यतीति किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति । तथा

विरहः, उन्मादः मनसः सङ्कल्पशक्त्यभाव इत्येते बुद्धिवधहेतुकत्वेन निर्दिष्टा एकादशेन्द्रियवधा इत्यर्थः । (१) स्वरूपतो बुद्धिवधाः कतीत्यत आह सप्तदशेति । कुत इत्यत आह तुष्टीति । (२) विपर्ययादिति । यतो विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनां सप्तदश बुद्धिवधा भवन्त्यतस्तेषामेव क्रमो वर्णनीयः प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वाद्विरोधिज्ञानस्येति भावः । (३) प्रकृत्याद्यतिरिक्तमात्मानं ज्ञात्वाप्यसदुपदेशेन यो नात्मश्रवणादौ प्रयतते तस्यात्मविषयिण्यस्तुष्टयश्चतस्र आध्यात्मिक्यो भवन्तीत्यर्थः । (४) विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्तं च सैव करोति कृतमात्मध्यानाभ्यासेनेति कस्यचिदुपदेशेन तुष्टिः प्रकृत्याख्येति मिश्राः । (५) प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न प्रकृतिमात्राज्जायते सर्वेषां सर्वदा प्रकृतेरविशेषात्तदुत्पादप्रसङ्गात्, किन्तु प्रव्रज्ययाऽतस्तामुपाददीथाः कृतं ध्यानादिनेति उपदेशेन या तुष्टिः सोपादानाख्येति वाचस्पतिमिश्राः ।

भाग्याख्या—भाग्येनैव मोक्षो भविष्यतीति भाग्याख्या,(१) चतुर्थी तुष्टिरिति। बाह्या विषयोपरमात्पञ्च। बाह्यास्तुष्टयः पञ्च विषयोपरमात्, (२)शब्द स्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनात्। वृद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यबाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्या एतदर्जनं दुःखम्, अर्जितानां रक्षणे दुःखम्, उपभोगात् क्षीयत इति क्षयदुःखम्, तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः, तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः, एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः, तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—

'(३) अम्भः सलिलं मेघो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम्' इति। आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति। तद्यथा—अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति ॥ ५० ॥

---

(१) अत एव मदालसायास्तत्वज्ञानवत्या वर्षाभ्यन्तरायुष्काणि अपत्यानि 'त्वं शुद्धोसि बुद्धोसि मा रुदिहि दुःखं नात्मधर्म' इत्याद्युपदेशेन प्राग्भवीयभाग्यवशादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुरिति, भाग्याख्येयं तुष्टिरित्यर्थः। (२) विषयोपरम एव कथमत आह शब्देति। अर्जनादिदुःखदर्शनाद्यदा शब्दादिभ्य उपरतो भवति तदा बाह्यास्तुष्टयः पञ्चविधविषयविषयकत्वात्पञ्चैवेत्यर्थः। अर्जनादिदुःखमेव विवृणोति वृद्धिनिमित्तमिति। (३) उक्तविधनवतुष्टीनां योगदर्शनोक्तानि संज्ञान्तराण्याहाम्भ इति। संसारमज्जनहेतुत्वसादृश्यात्प्रकृतितुष्टेरम्भ इति, संसरणनिमित्तत्वादुपादानतुष्टेः सलिलमिति, कालप्रतीक्षाया उत्तापकत्वात्कालतुष्टेर्मेघ इति, अकस्मात् विवेकख्यातिसिद्धनाद्भाग्याख्या तुष्टिर्वृष्टिरित्येवमाध्यात्मिकीनां तुष्टीनां संज्ञाः। एवमर्जनदुःखस्यात्यन्तं भयावहत्वात्सुतम इति, रक्षणकाले भोगाभिलाषवृत्त्या तद्दुःखस्य पारगमनसम्भवाद्द्वितीया पारमिति, एवं क्षयदोषदर्शनादप्रवृत्तौ दुःखपारगमनात्तृतीया सुनेत्रमिति, सङ्गदोषं भावयतो नास्त्यरिरिति चतुर्थी नारीकमिति, तथा हिंसादोषदर्शनान्नास्ति अन्यत् जलवत् कारुण्योत्पादकमिति पञ्चम्यनुत्तमाम्भसिकमित्येवं बाह्यास्तुष्टयो वैराग्ये सति जायन्ते इति वैराग्यहेतुपञ्चत्वात्पञ्चेति भावः। एताश्च पारं सुपारं पारापारमनुत्तमाम्भः उत्तमाम्भ इति संज्ञापञ्चकेन मिश्रैः प्रोक्ताः, एतेषां युक्तायुक्तत्वे सुधीभिः स्वयं विभावनीये।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥ ५१॥

सिद्धिरुच्यते—ऊहो यथा कश्चिन्नित्यमूहते किमिह सत्यं किं परं किं नैःश्रेयसं किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्, इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते प्रधानादन्य एव पुरुष इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीत्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते येन मोक्षो भवति, एषा (१)ऊहाख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या (२)सिद्धिः। अध्ययनाद् वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति इत्येषा तृतीया(३) सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात् त्रिधा कल्पनीया इति षट् (४)सिद्धयः। तथा सुहृत्प्राप्तिः, यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति, एषा सप्तमी सिद्धिः(५)। दानं यथा कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दाने-

(१) ऊहस्तर्कः, आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणम्, परीक्षणं च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनं यन्मननमाचक्षते आगमिन इति मिश्राः। अस्याश्च तन्मते तारतारमिति संज्ञैतन्मते तु तारमिति विशेषः। (२) अध्ययनकार्यशब्दजन्यार्थज्ञानरूपेयं 'सुतारम्' इति मिश्रमतेपि व्यपदिश्यते इति न कश्चिद्विशेषः। (३) गुरुमुखात् अध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं 'तार'मिति संज्ञया व्यपदिष्टा मिश्रमते प्रथमा सिद्धिरियं बोद्धव्या। (४) एता मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतया त्वितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयस्ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः, तत्राध्ययनरूपा सिद्धिर्हेतुरेव मुख्यास्तु हेतुमत्य एव, मध्यमा ऊहशब्दसुहृत्प्राप्तिदानाख्या हेतुहेतुमत्य इति तत्त्वकौमुदी। (५) न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते न यावद्गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिः सह संवाद्यतेऽतः सुहृदामुक्तसंवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिश्चतुर्थी सिद्धिः रम्यकमिति मिश्रमतम्।

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

नोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति, (१)एषाऽष्टमी सिद्धिः । आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः—'तारं सुतारं तारतारं प्रमोदं प्रमुदितं प्रमोदमानं रम्यकं सदाप्रमुदितम्' इति । 'आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्ते अशक्तौ निक्षिप्ताः—यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम् । (२)अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति । तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धीनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो निर्देशश्च (३)कृत इति । किञ्चान्यत् सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः, (४)सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः, यथा हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति, एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तस्मान्मोक्ष इति ॥ ५१ ॥

अथ यदुक्तं भावैरधिवासितं लिङ्गं, तत्र भावा धर्मादयोऽष्टावुक्ता बुद्धिपरिणामाः, विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः प्रत्ययसर्गो(५), लिङ्गञ्च तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधस-

(१) दैप् शोधन इत्यस्माद्धातोर्दानपदव्युत्पत्तेः, सदाप्रमुदितनाम्ना व्यपदिष्टेयं पञ्चमी सिद्धिर्मिश्रैः । (२) प्रदर्शिततुष्टिसिद्धिविपर्ययाशक्तिभेदसंख्यापूरकत्वं प्रदर्शयन्नष्टाविंशतिसंख्यां सङ्कलयति अशक्तीति । (३) नाममात्रेण सङ्कीर्तनमुद्देशः, लक्षणपूर्वकं नामकीर्तनं च निर्देश इति । (४) अत्र समासेन चतुर्विधे बुद्धिसर्गे सिद्धिरुपादेया तन्निवारका विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह सिद्धेरिति । पूर्व इति विपर्ययादित्रयग्रहणम् । ताः सिद्धिकरिणीनामङ्कुशो निवारकत्वात्, अतः सिद्धिपरिपन्थित्वाद्विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इति मिश्राः । तद्भेदादेव विपर्ययादिभेदादेव, अङ्कुशोऽपि त्रिविध इत्यर्थः । (५) विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिरूपेण परिणता धर्मादयोऽष्टौ भावा एव भावाख्यो बुद्धिसर्ग इत्यर्थः ।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

र्गेणेत्यत आह—भावैः प्रत्ययसर्गैर्विना(१) लिङ्गं न तन्मात्रसर्गो न, पूर्वपूर्वसंस्काराद्दृष्टकारितत्वादुत्तरोत्तर(२)देहलम्भस्य, लिंगेन तन्मात्रसर्गेण च विना भावनिर्वृत्तिर्न स्थूलसूक्ष्मदेहसाध्यत्वाद्धर्मादेः, (३)अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात्, तस्माद्भावाख्यो लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्त्तते सर्ग इति ॥ ५२ ॥

किञ्चान्यत्—तत्र दैवमष्टप्रकारम्—ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यमैन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः । मानुषयोनिरेकैव(४) । इति चतुर्दश भूतानि ॥ ५३ ॥

त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते—(५) ऊर्ध्वमिति । अष्टसु देवस्थानेषु सत्त्वविशालः सत्त्वविस्तारः सत्त्वोत्कट ऊर्ध्वसत्त्व इति, तत्रापि रजस्तमसी स्तः । तमोविशालो मूलतः, पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः, (६)तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः । मध्ये मानुषे

---

(१) धर्मादिसहितैर्भोगसाधनैरिन्द्रियान्तःकरणादिभिर्विना । (२) स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तेः । (३) ननु धर्मादयो भावाः शरीरापेक्षाः, शरीरं धर्माद्यपेक्षमित्यन्योन्याश्रयदोषादुभयस्याप्यसम्भव इत्यत आह अनादित्वाच्चेति । सर्गप्रवाहस्यानादित्वादविच्छिन्नत्वात्, यथा बीजं प्रथममङ्कुरो वेत्यनिर्णयेऽपि नेतरेतराश्रयदोषस्तथा बुद्धेरनादितया तत्संयोगस्याप्यनादित्वेन संसारप्रवाहस्यानादितयोभयविधसर्गे नान्योन्याश्रयदोष इति भावः । अन्योन्याश्रयाभावे हेतुमाह तत्तदिति । (४) ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षयैकत्वमिदं बोध्यम्, संस्थानस्य सर्वत्राविशेषादिति । इतीति । संक्षेपतोऽयं भौतिकः सर्ग उक्त इत्यर्थः । (५) भौतिकस्यास्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिकर्षतारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्यभावेन त्रैविध्यमाहोर्ध्वमिति मिश्राः । सत्त्वविशालशब्दस्य पर्यायान्तरैरर्थमाह सत्त्वविस्तार इत्यादिना । सत्त्वगुणप्रधान इति यावत् । अत एवाह तत्रापीति । (६) तमोबहुलस्तमःप्रधान इत्यर्थः, अत एवाह तत्रापीति ।

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

रज उत्कटं, तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते, तस्माद् दुःखप्राया मनुष्याः । (१)एवं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः, ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः । एवमभौतिकः सर्गो लिङ्गसर्गो भावसर्गो भूतसर्गो दैवमानुषतैर्यग्योना इति, एषः प्रधानकृतः षोडशविधः सर्गः(२) ॥ ५४ ॥

(३)तत्रेति । तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु जराकृतं मरणकृतं चैव दुःखं चेतनः चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति,(४) न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो न तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च । कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोतीति तद्विविनक्ति—लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति । यत् तन्महदादि लिङ्गशरीरेणाविश्य(५) तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन्न निवर्त्तते संसारशरीरमिति यावत्, संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति, लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, लिङ्गस्य विनिवृत्ति(६)यावत्, लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति । तत् पुनः केन निवर्त्तते ? (७)यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्—

(१) भूर्लोको धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद्दुःखबहुलत्वाच्च रजोगुणप्रधान इति मिश्राः । लोकस्थितिं संक्षिपति एवमिति । (२) लिङ्गभावभेदेन द्विविधोऽभौतिकः, अष्टविधो दैवः, पञ्चविधस्तैर्यग्योनः, एकविधो मानुष्यक इति मिलित्वा चतुर्दशविधो भौतिकः सर्ग इत्येवं प्राधानिकः षोडशविध इत्यर्थः । (३) तदेवं सर्गं निरूप्य तस्यापवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनीं दुःखहेतुतामाह तत्रेति । (४) तस्माद्दुःखं स्वभावेन स्वत एव सर्गो दुःखरूपः विवेकिनामिति अत्र पूरणीयम् । दुःखादिप्राकृतगुणानां कथं चेतनसम्बन्धितेत्यत उक्तं पुरुष इति । पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः, लिङ्गं च तत्सबन्धीति चेतनोपि तत्सम्बन्धी भवतीति मिश्राः । एवं च जडप्रकृत्यादिषु वर्तमानस्यापि दुःखस्योपलब्धिः पुरुष एव भवतीत्याशयेनाह न प्रधानमित्यादिना । (५) स्थूलशरीर इत्यादिः । संसारशरीरं सूक्ष्मशरीरम् । (६) कुतः पुनर्लिङ्गसम्बन्धि दुःखं पुरुषस्येत्यत्राह लिङ्गस्याऽविनिवृत्तेः । पुरुषाद्भेदाग्रहाल्लिङ्गधर्मान् दुःखादीन् आत्मन्यध्यवस्यति पुरुष इति मिश्राः । (७) ज्ञानेन लिङ्गनिवृत्तेः प्रकारमाह यदेति ।

इत्येष प्रकृतिकृतौ महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि येभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश इत्येवं ज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति॥५५॥

प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते—(१)इत्येष परिसमाप्तौ निर्देशे च, प्रकृतिकृतौ (२)प्रकृतिकरणे प्रकृतिक्रियायां य आरम्भो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीत्येष प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं पुरुषं पुरुषं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां (३)विमोक्षार्थमारम्भः । कथम् ? स्वार्थ इव परार्थं आरम्भः, यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति एवं प्रधानम्, पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति, स्वार्थ(४)इव न च स्वार्थः परार्थ एव, अर्थः शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः अन्ते च मोक्षेणेति प्रधानस्य प्रवृत्तिः, तथा चोक्तम्–'कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति ॥ ५६ ॥

---

(१) उक्तस्य सर्गस्य कारणविप्रतिपत्तीर्निराकरोति इत्येष इति मिश्राः । सर्गस्य प्रकृतिमात्रारब्धत्वं वक्तुमुपसंहरति इत्येष इति नारायणतीर्थः । (२) प्रकृतिक्रियायां प्रधानव्यापारे य आरम्भो महदादिरूप इत्यनेन ब्रह्मादृष्टादिव्यापारत्वं तस्य निरस्तम् । अत्र प्रकृतिकृत इति प्रथमान्तपाठस्य मिश्रादिसंमतत्वेऽपि एतन्मते सप्तम्यन्तस्यैव पाठस्य व्याख्यानात्स एवात्र मुद्रितः । (३) मध्ये प्रत्येकं चेतनपुरुषस्य विमोक्षार्थमित्यनुषज्यान्वयः । (४) स्वार्थ इव न च प्रकृतेः कश्चित्स्वार्थः, तस्या जडतया स्वार्थाभावात्, एवं च स्वार्थ इवेति दृष्टान्तः, तथा च यथा चेतना कान्ता 'अहं पुरुषेण भोग्या भवामीति' स्वकर्मकभोगरूपे स्वार्थे प्रवर्तते तथा नेयं, किन्तु प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थ एव प्रवर्तते प्रकृतिः, तथा च प्रथमं भोगं प्रदाय पश्चात् परार्थं मोक्षमपि दास्यतीति भोगार्थमपवर्गार्थं चास्याः परार्थ एव आरम्भ इत्यर्थः । एतदभिप्रायेणैवाह अर्थ इत्यादिना ।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥
औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥
(१)रङ्गस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

---

(२) 'अत्रोच्यतेऽचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति, मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्त्तव्य इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ?' सत्यं, किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा निवृत्तिश्च यस्मादित्याह—यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्से निवर्त्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम् इति अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति ॥ ५७ ॥

(३) किञ्च—यथा लोके इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्त्तते गमनागमनक्रियासु कृतकार्यो निवर्त्तते(४), तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दा-

---

(१) ननु भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिर्निवृत्तिस्तु कथम् ! तथा च पुरुषस्यानिर्मोक्ष एव स्यादत आह रङ्गस्येति । (२) आक्षिपति अत्रोच्यत इत्यादिना । अचेतनायाः कथं प्रवृत्तिरित्याक्षेपाशयः । समाधत्ते सत्यमित्यादिना । क्षीरादीनामचेतनानामपि प्रवृत्तिदर्शनादचेतनप्रकृतेः प्रवृत्त्यङ्गीकारे न कश्चिद्दोष इति समाधानाभिप्रायः । ननु क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनतया प्रवृत्तेश्चेतननियतत्वमव्याहतमेवेति दृष्टान्तासिद्धिरिति चेन्न । सांख्यमते ईश्वरसत्त्वे प्रमाणाभावात्, तत्सत्त्वेप्याप्तकामस्येशस्य प्रयोजनं विना प्रवर्तकत्वायोगात् । न च कारुण्यादिति वाच्यम् । सर्गात्प्राक् जीवानां दुःखित्वासम्भवेन तन्निवृत्तीच्छारूपकारुण्यस्यापि तत्रासम्भवात्तस्मात्स्वयमज्ञापि परप्रयोजनेनैव क्षीरादिवत् प्रवर्तते प्रकृतिरिति सुस्थिरम् । (३) ननु प्रयोजनोद्देशेनैव प्रवृत्तिर्दृष्टा न चास्यास्तदस्तीत्यत्राह औत्सुक्येति । स्वार्थ इवेति यद्दृष्टान्तितं तद्विभजते इति मिश्राः । (४) औत्सुक्यमिच्छाविशेषस्स चेष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते, इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात्फलस्येति भावः ।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥
प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

दिविषयोपभोगोपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा प्रधानं निवर्त्तते ॥ ५८ ॥

किञ्चान्यत्—यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसै रतिहासादिभावैश्च निबद्धगीतवादित्रनृत्यानि रङ्गस्य(१)दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्त्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य (२)बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन, निवर्त्तते ॥५९॥

कथं को वाऽस्या निवर्त्तको हेतुः ? तदाह—(३)नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः । कथम् ? देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन शब्दादिविषयभावेन, एवं नानाविधैरुपायैरात्मानं प्रकाश्याहमन्या त्वमन्य इति निवर्त्तते, अतो नित्यस्य तस्यार्थमपार्थकं चरति कुरुते, (४) यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते नात्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति करोत्यपार्थकम् । पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते ॥ ६० ॥

निवृत्ता च किं करोतीत्याह—(५)लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं (६)न किञ्चिद-

---

(१) मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् स्थानिलक्षणया सभ्यादेरित्यर्थः । (२) केन रूपेण प्रकाशयति प्रकृतिरित्यत आह बुद्धीति । इदमुपलक्षणम्—पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्य निवर्तत इति । (३) ननु परार्थं प्रत्युपकारसम्बन्धेन प्रवृत्तिर्दृश्यते, नहि पुरुषात्कश्चित्प्रत्युपकारः प्रकृतेरत आह नानाविधैरित्यन्ये । (४) यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽत एवानुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधनः एवमियम्प्रकृतिरपि तपस्विनी गुणवत्युपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति मिश्राः । (५) स्यादेतत् नर्तकी नृत्यं सभ्येभ्यो दर्शयित्वा धनप्राप्त्या निवृत्तापि पुनः कुतूहलात् यथा प्रवर्तते तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा विवेकेन निवृत्तापि पुनः प्रवर्त्स्यते इत्यत आह प्रकृतेरिति मिश्रादयः । (६) सुखदुःखमोहात्मकसुभोग्यविषयम् अन्यत् ईश्वरस्वभावकालादि लोके नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह येनेति ।

स्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एवं मतिरुत्पन्ना, कस्मात् ? अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः। (१) तत्र सुकुमारतरं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥

(२)अपरे स्वभावकारणिका ब्रुवते—

'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव—' इति।

(३) अत्र सांख्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन् ? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव, तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते, यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव—इति, एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते, (४)निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। (५)तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति, उक्तं च—

कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्।

प्रकृतेः परार्थमतौ हेतुं प्रश्नपूर्वकमाहाहमनेनेति। (१) प्रकृतावेवोक्तविधं सुकुमारतरत्वं प्रदर्शयितुमन्यत्र तन्निषेधार्थं मतान्तराणि निरूपयतीत्यर्थः। अज्ञ इति। स्वसुखदुःखभोगयोरसमर्थोऽयं जीव ईश्वरप्रेरणयैव स्वर्गनरकसुखदुःखादि भुङ्क्तेऽत ईश्वरः कारणमितीश्वरकारणतामाह एकः। (२) निषेध्यं मतान्तरमाह अपर इति। हंसादीनां स्वभावतः शुक्लानां शुक्लत्वं स्वभावतश्चित्राणां मयूराणां चित्रत्वं च स्वभावेनैवातः स्वभावत एवास्य जगत उत्पत्तिरिति स्वभावकारणतावादोऽपरः। (३) मतद्वयं निषेद्धुं सांख्याचार्यमतमाहात्रेति। सगुणतः—सुखदुःखादिगुणत्रयः। ईश्वरकारणतावादं निरस्य जीवकारणतावादमपि प्रसङ्गान्निरस्यति कथं वेति। निर्गुणाज्जीवात्कथं सगुणं कार्यजातमुत्पद्यतेत्यर्थः। प्रकृतिकारणतावादमुपसंहरति तस्मादिति। सगुणकारणात्सगुणकार्योत्पत्तौ दृष्टान्तप्रदर्शनेन प्रकृतिकारणतावादं द्रढयति यथेति। (४) प्रकृतिकारणतावादं संस्थाप्येश्वरात्मकारणतावादनिराकणमुपसंहरति निर्गुण इति। (५) केषाञ्चिदंगीकृते जगद्धेतौ कालेऽपि प्रकृतिवत्सुकुमारतरत्वं न सम्भवतीति प्रदर्शयितुं कालकारणतावादिमतं निरूपयति तथेति। स्वभाववत् काल

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ ६२॥

कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥

व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः सर्वकर्त्तृत्वात्, कालस्यापि प्रधानमेव कारणं स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः, तस्मात् कालो-न कारणम् नापि स्वभाव इति। (१)तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणा-न्तरमस्तीति, न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य, अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके रूढम्॥ ६१॥

"पुरुषो मुक्तः पुरुषः संसारी" इति नोदिते आह (२)—तस्मात् कारणात् **पुरुषो न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति,** यस्मात् कारणात् **प्रकृतिरेव नानाश्रया** दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण **बध्यते मुच्यते संसरति** चेति। "(३)अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति?" अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति, तेन पुरुषो बध्यते पुरुषो मुच्यते पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते येन संसारित्वं विद्यते, सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात् तत्त्वं पुरुष-स्याभिव्यज्यते, तदभिव्यक्तौ केवलः शुद्धः मुक्तः स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति। (४)"अत्र यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति ततो मोक्षोऽपि नास्ति"। अत्रोच्यते—

स्यापि व्यक्ततया तद्धेतुप्रधानकारणतावादेनैव तयोः कारणत्वं निरस्तमिति भावः। तेन-तत्र, कथमन्तर्भाव इत्याह स हीति। (१) प्रकृतिहेतुतावादमुपसंहरति तस्मादिति। (२) ननु पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य सुखदुःखादिरूपो बन्धः, अतो न मोक्षोऽपि तस्य बन्धेन सामानाधिकरण्यात् तस्मात्पुरुषविमोक्षार्थ-मिति रिक्तं वचः, इतीमामाशङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन्नपाकरोति तस्मादि-त्यमन्ये। (३) यदि स्वभावतो मुक्त एव पुरुषस्तदा सर्वगतस्य तस्य कथं संसार इत्याशयेनाक्षिपति अथेति। समाधत्त अप्राप्तेति। निःसङ्गत्वेन अप्राप्तस्य शब्दाद्युप-भोगस्य प्राप्तये बुध्यादिभेदाग्रहात् तद्गतसंसरणमात्मनि प्रतीयते, भेदप्रतीतौ च पुरुषगतनिःसङ्गत्वादिप्रतीत्या स स्वतो न बद्धो न मुक्त इत्यादिपुरुषस्वरूपाभिव्यक्त्या स्वरूपप्रतिष्ठालाभ इति समाधानार्थः।

(४) पुनः शङ्कते अत्रेति। यदि न पुरुषस्य बन्धः संसारापरपर्यायस्तदाऽऽ-

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं त्रिविधकरणोपेतं त्रिविधेन बन्धेन बध्यते, उक्तञ्च—

प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते।

तत् सूक्ष्मं शरीरं धर्माधर्मसंयुक्तम् ॥ ६२ ॥

"प्रकृतिश्च बध्यते प्रकृतिश्च मुच्यते संसरतीति (१)कथम्" तदुच्यते – रूपैः सप्तभिरेव, एतानि सप्त प्रोच्यन्ते—धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्, एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि, तैरात्मानं स्वं बध्नाति प्रकृतिः, आत्मना स्वेनैव सैव प्रकृतिः, पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः (२)कर्त्तव्य इति विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण ज्ञानेन ॥ ६३ ॥

त्मा मुक्त इति व्यवहारः कथं स्यात्, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वादिति शङ्काकर्तुरभिप्रायः। समाधत्ते अत्रोच्यते इति। असङ्गोऽप्यात्मा प्रकृतिसंसर्गादेवाभेदाग्रहमूलकं बन्धमात्मन्यारोपयति मुक्तिं च, यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्तत्फलस्य च शोकलाभादेः स्वामिनि सम्भवात्, तथा च प्रकृतिगतयोरपि भोगापवर्गयोर्विवेकाग्रहात्पुरुषसम्बन्धसम्भवात् मुक्त आत्मेत्यादिव्यवहारोपपत्तिरिति समाधानार्थः। प्रकृतिसङ्घात् कुत्रात्माऽऽत्मानं बध्नाति मोचयति चेत्यत्राह यत्रेति। योनिविशेषे इत्यर्थः, त्रिविधकरणोपेतं—महदाद्याभ्यन्तरत्रिविधकरणसहितम्, तत् धर्माधर्मसंयुतं सूक्ष्मशरीरम्, बध्यते तत्र प्रकृत्यादिसंगादात्मनि बन्धादिव्यवहार इत्यभिप्रायः। त्रिविधबन्धमाह प्राकृतेनेति। (१) किंसाधनाः प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गा इति प्रश्नार्थः। (२) भोगापवर्गरूपः। एकरूपेणेति। तथा च भोगरूपपुरुषार्थं प्रति धर्मादिसप्तविधरूपैरात्मानं बध्नाति, स्वरूपावस्थानरूपापवर्गं प्रति चैकेन केवलेन ज्ञानरूपभावेनैवात्मानं संसारान्मोचयतीति भावः। एतेन वैराग्याद्यभावेऽपि ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमिति सूचितम्, विषयजिहासारूपवैराग्यस्य विषयदोषदर्शनजन्यस्य भोगेष्वदीनतामात्रम्, तथा धीनिरोधरूपोपरमस्य च यमादिसाध्यस्य द्वैतादर्शनमात्रं फलं

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ ६४॥
तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः॥ ६५॥

"कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ?"—एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासादियं प्रकृतिरयं पुरुष एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते, नास्मि नाहमेव भवामि, (१)न मे मम शरीरं तत्, यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत्, (२)नाहमिति अपरिशेषम्, अहङ्काररहितम्, अविपर्ययाद्विशुद्धं(३), विपर्ययः संशयोऽविपर्ययादसंशयाद्विशुद्धं, केवलं(४) तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यतेऽभिव्यज्यते ज्ञानं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति॥ ६४॥

"ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?"—(५)तेन विशुद्धेन केवलज्ञानेन पुरुषः प्रकृतिं पश्यति प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यमवस्थितः (६)स्वस्थः, यथा रङ्गप्रेक्षकोऽवस्थितो नर्त्तकीं पश्यति, स्वस्थः स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः स्वस्थानस्थितः। कथं-

---

न मोक्षः 'तमेव विदित्वे'त्यादिश्रुतिषु तस्य ज्ञानैकलभ्यत्ववर्णनादिति तात्पर्यम्। (१) कर्तृत्वादिविशिष्टं बुध्यादिकं अहं न भवामीत्यर्थः, अनेनात्मनि आरोपितं कर्तृत्वं विशुद्धज्ञानोत्पत्तौ निवर्तते इति सूचितम्। कर्तृत्वाभावे च स्वामित्वमपि निवर्तत इत्याशयेनाह न मे इति। कर्ता हि स्वामित्वं लभेत, तस्मात्स्वाभाविकी स्वामिता कुत इति मिश्राः। अभेदज्ञानपर्यन्तं मे मम शरीरमिति ग्रहात्स्वामित्वप्रतीतिर्भेदज्ञाने सा निवर्तत इति गौडपादाशयः। (२) आत्मनि अध्यवसायादिसर्वव्यापारनिषेधाच्च कर्तृत्वाभाव इत्याह नाहमिति मिश्राः। अहङ्कारभेदग्रहविशिष्टमिति गौडपादाभिप्रायः। अपरिशेषम् चरमम् इत्यन्ये। (३) संशयविपर्ययौ ज्ञानस्याविशुद्धी तद्रहितं विशुद्धमिति मिश्राः। व्यधिकरणप्रकाराभावाद्विशुद्धम् प्रमात्मकं मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनक्षममिति चन्द्रिकाकारः। (४) पुरुषमात्रगोचरमिति नारायणतीर्थाः। विपर्ययासंभिन्नमिति वाचस्पतिमिश्राः। (५) किम्पुनरीदृशेन साक्षात्कारेण सिध्यतीत्याह तेनेति मिश्राः। (६) अवस्थितो निष्क्रियः। स्वस्थ इत्यत्र स्वच्छ इति पाठो मिश्रमते, तस्य च रजस्तमोकलु-

(१)दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

भूतां प्रकृतिम् ? निवृत्तप्रसवां निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम् (२)अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां, निवर्त्तितपुरुषोभयप्रयोजनवशाद् यैः सप्तभी रूपैर्धर्मादिभिरात्मानं बध्नाति तेभ्यः सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं पश्यति ॥ ६५ ॥

किञ्च—रङ्गस्थ इति (३)यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षक एकः केवलः शुद्धः पुरुषः, तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता निवृत्ता, एका एकैव प्रकृतिः त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति मूर्त्तिवधे जातिभेदात्, (४)एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति, सति संयोगेऽपि तयोः प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य सृष्टेः चरितार्थत्वात्, (५)प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च, उभयत्रापि चरितार्थत्वात् सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं यः पुनः सर्ग इति, (६)यथा दानग्रहणनिमित्त उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति, एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति ६६

षया बुद्ध्याऽसम्भिन्न इत्यर्थस्तन्मते बोध्यः । (१) ननु नित्ययोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं तस्याः प्रसवनिवृत्तिस्तत्राह दृष्टेति । (२) अहङ्कारकार्याणि भोगभेदसाक्षात्कारादयो निवृत्ता यस्यास्ताम्, भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृत्या प्रसोतव्यौ तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिरिति भावः । (३) रङ्गस्थ इति पदं स्वयं व्याचष्टे यथेति । यथा रङ्गभूमिस्थः सभ्यः नर्तकीं दृष्ट्वा तद्दर्शनादुपरमते तथैकः पुरुषः स्वभिन्नेयं स्वसम्पर्काद्बध्नातीत्येवंगुणा प्रकृतिर्मया दृष्टेत्युपेक्षको भवति, तद्भोगाद्यावेशरहितो भवतीत्यर्थः । एवं प्रथमपादं व्याख्याय द्वितीयं व्याचष्टे तेनाहमिति । गौडपादमते 'दृष्टाहमित्युपरमत्येकेति' पाठोऽत्र द्रष्टव्यः, अत एवाह एकेति । न द्वितीयेत्यत्र हेतुमाह मूर्त्तिवध इति । प्रकृतेर्जात्या भेदस्वीकारे मूर्तिनाशस्य हेतुत्वात्तस्य च परिणामवादेऽसम्भवात् इति भावः । (४) उत्तरार्धमवतारयति एवमिति । सति संयोगेपीत्यस्यार्थमाह तयोरिति । (५) सृष्टिचरितार्थत्वं विवृणोति प्रकृतेरिति । (६) पुनः प्रकृतिपुरुषयोः सृष्टिप्रयोजकसंसर्गाभावे दृष्टान्तमाह यथेति ।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्द धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्ध धृतशरीरः ॥ ६७ ॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

'यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति ततो मम कस्मान्न भवती'त्यत्र उच्यते(१)-यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति तथापि संस्कारवशाद्धृतशरीरो योगी तिष्ठति, कथम् ? चक्रभ्रमवच्चक्रभ्रमेण तुल्यम् , यथा कुलालश्चक्रं भ्रामयित्वा घटं करोति, मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य पुनः कृत्वा घटं पर्यामुञ्चति चक्रं भ्रमत्येव संस्कारवशात् , एवं सम्यग्ज्ञानाधिगमादुत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनामकारणप्राप्तौ एतानि सप्त रूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि, यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि । (२) धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धृतशरीररितष्ठति, (३)'ज्ञानाद्वर्त्तमानधर्माधर्मक्षयः कस्मान्न भवति' वर्त्तमानत्वादेव, क्षणान्तरे क्षयमभ्येति, ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति, वर्त्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः ॥ ६७ ॥

स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते—धर्माधर्मजनितसंस्कारक्षयात्(४) प्राप्ते शरीरभेदे (५)चरितार्थत्वात प्रधानस्य निवृत्तौ ऐकान्तिकमवश्यमात्य-

(१) ननु 'भिद्यते हृदयग्रन्थिरि'त्यादिश्रुत्या तत्त्वज्ञानानन्तरमेव मुक्तौ सर्वकर्मक्षयेण देहाद्यभावसूचनात् कथं प्रकृतिदर्शनम्। ज्ञाने देहस्य कारणत्वात्तत्राह सम्यगित्यपरे । ज्ञानस्य मोक्षे हेतुत्वप्रातिपादनाज्ज्ञानवतो मे मोक्षः कथं नेति गौडपादावतरणाशयः । (२) उपसंहरति धर्मादीनामिति । (३) ननु ज्ञानेनातीतानागतधर्माधर्मकर्मसञ्चयविनाशवत् वर्तमानधर्माधर्मक्षयः कुतो न, येन ज्ञानानन्तरं शरीरपातेऽपवर्ग एव भवेत्कथं धृतशरीरतेत्याशयेनाक्षिप्य समाधत्ते ज्ञानादित्यादिना । क्षणान्तरे-प्रारब्धभोगानन्तरं, अत एवाहुः 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपीति । (४) ननु यद्युत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि तिष्ठति कदा तर्हि मोक्षं गच्छति तत्राह प्राप्त इति अन्ये । (५) भोगेन प्रारब्धक्षयतः शरीरस्य विनाशे प्राप्ते,

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥
एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥
शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
सङ्क्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

इति सांख्यकारिका समाप्ता ।

न्तिकमनन्तर्हितं कैवल्यं केवलभावान्मोक्षम्, उभयमैकान्तिकात्यन्तिकमित्येवं-विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

(१)पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थं ज्ञानमिदं गुह्यं रहस्यं परमर्षिणा श्रीकपिलर्षिणा समाख्यातं सम्यगुक्तम् । यत्र ज्ञाने(२) भूतानां वैकारिकाणां स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थानाविर्भावतिरोभावाश्चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते (३)संवित्तिरिति ॥ ६९–७२ ॥

सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि ।
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥

इति सांख्यकारिकाव्याख्या समाप्ता ।

चरितार्थत्वात् बुद्धितत्वादिद्वारा कृतभोगापवर्गलक्षणप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ संयोगाभावलक्षणलयेऽवश्यंभावि पुनर्दुःखजातीयानुत्पत्तिविशिष्टं चोभयविधं कैवल्यं मोक्षं प्राप्नोति पुरुष इत्यर्थः । (१) प्रेक्षावद्विश्वासार्थं परमर्षिपूर्वकत्वमस्य शास्त्रस्याह पुरुषार्थ इति । (२) यज्ज्ञानार्थम्, यथा चर्मणि द्वीपिनं हन्तीति मिश्राः । (३) अनुभवः प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारात्मकः ।

* श्रीगणेशाय नमः *

सांख्यकारिका-भाषानुवाद ।

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥
प्रकृति-पुरुषको नमन करि ध्याइ तथा गुरुपाद ।
सांख्यकारिकाका करूं हिन्दीमें अनुवाद ॥

साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र भगवदवतार कपिल महामुनिने अवतारलेकर सारे संसारके जीवोंको अज्ञानरूप अन्धकारमें डूबा हुआ देखकर उनपर दया करते हुए पचीस तत्त्वोंके ज्ञानसे भरे हुए जिस सांख्यशास्त्र का अपने प्रधान शिष्य आसुरि मुनिको उपदेश किया था, आचार्य-परम्परासे प्राप्त उसी सांख्यशास्त्र का सार ईश्वरकृष्ण नामके महर्षिने सत्तर ७० कारिकाओंमें संग्रह कर शिष्योंको इस तरह पढ़ाया कि हे शिष्यों ! इस संसारमें प्राणिमात्रको *आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंका प्रतिकूल होनेके कारण असह्य सम्बन्ध होनेसे प्रकृतिपुरुष-विवेकद्वारा उक्त दुःखोंके नाशक सांख्यशास्त्र ज्ञान रूप उपायकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) बुद्धिमान् पुरुषोंको होती है ।

शिष्यों का प्रश्न—पूर्वोक्त दुःखत्रयका उच्छेद रसायनादि औषध-सेवनरूप दृष्ट (लौकिक) उपायोंसे हो सकता है इसलिये शास्त्रज्ञानरूप अलौकिक उपायमें जिज्ञासा व्यर्थ है ?

---

* शरीर तथा मनमें जो दुःख होते हैं वे दो प्रकारके (शारीरिक तथा मानसिक) आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं, १ इनमेंसे वातपित्तकफादिकोंके वैषम्यसे जो ज्वरादि होते हैं, ये शारीरिक दुःख कहलाते हैं, २ तथा काम क्रोध लोभ मोह भय ईर्ष्या तथा अभीष्ट विषयों की अप्राप्तिसे होनेवाले दुःख मानसिक कहे जाते हैं। आधिभौतिक दुःख वे हैं जो शेर, चोर इत्यादि भौतिक प्राणियोंसे पैदा होते हैं। इसी तरह अग्नि-वायु इत्यादि देवताओंसे होनेवाली दाहादि व्याधियोंको आधिदैविक कहते हैं, और भूत प्रेत पिशाचादि बाधाको भी आधिदैविक दुःखही कहते हैं ।

उत्तर—दृष्टोपायोंसे दुःखोच्छेद अवश्य होता ही है यह नियम न होनेसे तथा होनेपर भी फिर दुःख पैदा होते हैं, इस कारण ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोच्छेद दृष्ट उपायोंसे नहीं हो सकता, और सांख्यशास्त्रके ज्ञानसे उत्पन्न तत्त्वज्ञान रूप अलौकिक उपायसे ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखका उच्छेद हो सकता है अतः सांख्यशास्त्रमें मुमुक्षु पुरुषोंको जिज्ञासा होना युक्त है ॥ १ ॥

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

इसी तरह सुख विशेष रूप स्वर्गादि फलोंको देनेवाले ज्योतिष्टोमयागादिरूप वेदोक्त कर्मभी, पशुहिंसादिकोंसे भरे होनेके कारण अशुद्ध, तथा कालान्तरमें फलके विनाशी होनेसे क्षयी, एवं उक्त कर्मोंके फलोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे ईर्ष्यादिक हो सकते हैं इसलिये अतिशय, ऐसे तीन दोष होनेसे, पूर्वोक्त दृष्ट उपायों के समान ही हैं, क्योंकि उनसे भी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोच्छेद नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्यक्ष तथा वेदोक्त उपायोंसे भिन्न सांख्यशास्त्रमात्रसे होने वाला तत्त्वज्ञान रूप उपायही ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोच्छेदमें समर्थ होनेसे श्रेयस्कर है, जो व्यक्त (महदादिकार्य) अव्यक्त (प्रकृति) तथा पुरुष (आत्मा) इन तीन प्रकारके पदार्थोंके ज्ञानसे होता है ॥ २ ॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

प्रश्न—सांख्यमें मुख्य कितने पदार्थ हैं ?

उत्तर—सांख्यमतमें व्यक्तादि तीन प्रकारके पदार्थोंका (जिनमें पचीस तत्त्व सांख्य मत के अन्तर्गत हैं) स्वरूप मुख्यतः चार प्रकारसे विभक्त है—१ केवल प्रकृति रूप, २ प्रकृति विकृति उभय रूप, ३ केवल विकृति रूप, ४ अनुभय रूप । जिनमेंसे सारे जगत् कार्यको पैदा करनेवाली किसी दूसरे कारणसे न पैदा होनेवाली प्रकृति जिसे 'अव्यक्त' कहते हैं केवल प्रकृति रूप पदार्थ है । दूसरे व्यक्त पदार्थका नौ हिस्सोंमें विभाग किया है—(१) जिसमेंसे महत्तत्व अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा ये सात प्रकृति विकृति (कारण कार्य उभय रूप) पदार्थ हैं, (२)और एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत ऐसे सोलह केवल विकृति (केवल कार्य रूप) पदार्थ हैं । चौथा 'ज्ञ' पुरुष अर्थात् आत्मा अनुभय रूप (न कारण न कार्य) है, ऐसे तीन पदार्थ या पचीस तत्त्व सांख्यमतमें ४ भागोंमें रक्खे गये हैं ॥ ३ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

प्रश्न—विना प्रमाण के उक्त पदार्थ क्यों माने जांय ?

उत्तर—परन्तु इन चार प्रकारके प्रमेय (जानने योग्य) पदार्थोंकी सिद्धि विना प्रमाणोंके नहीं हो सकती, इसीलिये प्रत्यक्ष[१] अनुमान[२] तथा आप्तवचन[३] ऐसे तीन ही प्रमाण सांख्योंने इसलिये माने हैं कि नैयायिक इत्यादिकोंसे माने हुए उपमानादि रूप बाकी सब प्रमाणोंका इन्हीं तीन प्रमाणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्वोक्त प्रमेय पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणों हीसे होनेके कारण प्रमाणोंका निरूपण करना आवश्यक है ॥ ४ ॥

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

प्रश्न—उक्त प्रमाणों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—उक्त तीन प्रमाणोंमें से विषयोंमें सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) इन्द्रियोंसे पैदा हुये बुद्धिके व्यापारको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, और इस व्यापारसे चैतन्य शक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पड़ना ही उसका फल है, जिसे प्रमा या पौरुषेयबोध ऐसा सांख्यमतावलम्बी कहते हैं। अथवा जिससे नियमित विषयका निश्चय होता है ऐसे इन्द्रिय या इन्द्रियसन्निकर्षको ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और इसका फल है चेतनमें प्रतिबिम्बित बुद्धिवृत्ति। अनुमान प्रमाण वह है जो हेतु तथा साध्यके व्याप्ति ज्ञान, तथा लिङ्गिपदकी आवृत्तिसे हेतुका पक्षमें रहनेका ज्ञान अर्थात् व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मता ज्ञानात्मक परामर्श ही को अनुमान कहते हैं, जिससे पर्वतमें वह्निज्ञान रूप अनुमिति फल होता है। इसके १ पूर्ववत् (कारणसे कार्यका अनुमान) २ शेषवत् (कार्यसे कारणका अनुमान) ३ सामान्यतोदृष्ट (कार्य तथा कारणसे भिन्न लिङ्गसे अनुमान) ऐसे तीन भेद हैं। आप्तवचनरूप शब्द प्रमाणका लक्षण है अर्थात्—यथार्थ वाक्यसे पैदा हुए वाक्यार्थज्ञानको प्रमाणशब्द कहते हैं। इस लक्षणसे वेद तथा तन्मूलकश्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानोंका भी युक्त होने से शब्द प्रमाणमें संग्रह हो जाता है, और अयुक्त होनेसे बौद्धादि दर्शनोंके वाक्य ज्ञानका संग्रह नहीं होता है ॥ ५ ॥

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

प्रश्न—उक्त तीनों प्रमाणोंके प्रमेय कौनसे हैं ?

उत्तर—इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य सभी पृथिव्यादि पदार्थोंकी सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे (१)सिद्धि होती है, और अतीन्द्रिय प्रकृत्यादि पदार्थोंकी सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाणसे होती है, और जो याग-अपूर्व-स्वर्ग इत्यादि पदार्थ अनुमानसे भी गृहीत नहीं होते उनकी शब्द प्रमाणसे सिद्धि होती है ॥६॥

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

प्रश्न—प्रकृत्यादि पदार्थोंका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

उत्तर—१ बहुत दूर होनेसे प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे आकाशमें बहुत ऊपर गये पक्षीका दूरता दोषसे प्रत्यक्ष नहीं होता । २ बहुत पास होनेसे भी प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे अपनेही आंखमें लगा हुआ काजल दिखाई नहीं देता । ३ इन्द्रियोंके घात (नाशसे) भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे अन्धेको रूप नहीं दिखाई देता । ४ मनके एक विषयमें आसक्त होनेसे भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे कामी पुरुषको आंखके सामने रहनेवाले पदार्थ भी नहीं दिखाई पड़ते । ५ अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वस्तु नहीं दीखपड़ती, जैसे परमाणु पदार्थ पास होने पर भी अतीन्द्रिय होनेसे नहीं दीख पड़ते । ६ व्यवधान (बीचमें दीवाल इत्यादिकोंका आड़) होनेसे भी पदार्थ नहीं दिखाई देते । ७ अभिभव-(तिरस्कार) से भी पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दिनमें सूर्यप्रकाशसे तिरस्कृत होनेके कारण चन्द्रमा नक्षत्र आदि नहीं दीख पड़ते । ८ समानाभिहार (समान पदार्थमें मिल जाने) से भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे वर्षाका पानी नदीके पानीमें मिल जानेसे अलग नहीं दिखाई देता ॥७॥

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

प्रश्न—इन आठ हेतुओंमेंसे प्रकृत्यादि पदार्थोंके प्रत्यक्ष न होनेमें एक भी न मानकर, उक्त पदार्थोंका अभाव होनेसे ही उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा क्यों न माना जाय ?

उत्तर—अत्यन्त सूक्ष्मताके कारण परमाणुओं के समान प्रकृत्यादि पदार्थोंकी

उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहीं होती न कि उनका अभाव होनेसे, क्योंकि महत्तत्व अहङ्कारादिकार्योंसे अनुमान द्वारा उनकी सिद्धि होती है। वे महत्तत्वादिकार्य जो प्रकृतिके समानधर्म तथा विरुद्धधर्मवाले दो प्रकारके होते हैं, आगे सिद्ध किये जायंगे, क्योंकि साधर्म्य वैधर्म्य प्रकारक कार्यतत्त्वज्ञानही मुक्तिमें उपयोगी होता है ॥८॥

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

और वह महत्तत्वादिकार्य सांख्यमतमें सत् है अर्थात् कारण व्यापारके पहिले भी उसकी अव्यक्त रूपसे सत्ता है, क्योंकि यदि असत् हो तो उसे कोई भी सत् नहीं कर सकता, यदि ऐसा हो तो असत् शशविषाणभी सत् हो जाय। इसीतरह कार्यार्थी समवायि कारणका ग्रहण करता है, जैसे दहीको चाहने वाला दूधका ग्रहण करता है न कि जलका, यदि दधिरूप कार्य असत् हो अर्थात् दूध रूपी समवायि कारणमें न हो तो दही चाहनेवाला जल लेकरभी दहीको बनाले, इसलिये कार्य कारणमें सत् ही है, और यदि कार्य कारणमें असत् हो तो कार्यको असत्ता सभी कारणोंमें समान होनेसे सभी कारणोंसे सब कार्य पैदा होने लगेंगे, ऐसा नहीं है, क्योंकि संसारमें जो कार्य जिस कारणमें है वह कार्य उसी कारणसे पैदा होता है, जैसे मिट्टीसे घटादिकार्य ही होते दिखाई देते हैं न कि पटादि कार्य, इसलिये सर्वसम्भव रूप दोष आनेसे भी कार्य कारणमें सत् है यही सिद्ध होता है।

प्रश्न—कारणमें ऐसी एक शक्तिकी विशेषता मानेंगे कि जिससे वह अपनेही कार्यको पैदा करेगी, इसलिये सर्वसम्भव रूप दोष नहीं आसकता, तब कार्यको कारण व्यापारके पहिले कारणमें सत् माननेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर—वह कारण शक्तिकी विशेषता अपने शक्य (अपनेसे होने योग्य) ही कार्यमें माननी पड़ेगी, यदि सर्वत्र माने तो फिरभी सब कारणोंसे सभी कार्य पैदा होनेका पूर्वोक्त दोष आ जायगा, इसलिये जब अपने २ कार्योंमें कारणोंकी शक्तिका सम्बन्ध मानना आवश्यक है तो बिना कार्यको सत् मानें सम्बन्ध हो नहीं सकता अतः कार्य सत् है। इसी तरह कार्य तथा कारणका अभेद होनेसे अर्थात् कार्यके कारणस्वरूप होनेसे भी कार्यको सत् मानना आवश्यक है क्योंकि जब कारण सत् है तो तद्रूप कार्य असत् कैसे हो सकता है। जैसे पट तन्तुओं का धर्म है उसी तरह संसारके सभी कार्य अपने २ कारणका धर्म होनेसे कार्योंसे

कारण भिन्न नहीं हैं, अर्थात् धर्मधर्मि भावमें भेद नहीं होता, इत्यादि व्यतिरेकि अनुमानोंसे भी कार्य तथा कारणका अभेद सिद्ध होता है। यह विषय विस्तारसे तत्त्वकौमुदीमें लिखा है पाठकोंको वहीं देखना चाहिये ॥ ९ ॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

प्रश्न—विवेकज्ञानमें उपयोगी व्यक्त (जगत् कार्य) तथा अव्यक्त (प्रधान) के समान धर्म तथा विरुद्ध धर्म कौनसे हैं ?

उत्तर—व्यक्त महत्तत्त्वादि कार्य हेतुमान् अर्थात् जिसके आविर्भावमें कारण है, ऐसे हैं, और अनित्य अर्थात् कभी २ इनका तिरोभाव भी होता है। इसी तरह अव्यापि याने सबमें नहीं रहते, क्योंकि व्यापक होनेसे क्रिया न होगी। तथा सक्रिय हैं, अर्थात् बुद्ध्यादिक एक एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करते हैं। और हरएक आत्माके साथ भिन्न२ बुद्ध्यादिक होनेसे बुद्ध्यादिकार्य अनेक हैं, अथवा सृष्टिके भेदसे भिन्न २ होनेसे अनेक हैं। इसी तरह बुद्ध्यादिकार्य अपने २ कारणोंमें आश्रित हैं, जैसे महत्तत्व-प्रधानमें, अहङ्कार-बुद्धिमें इत्यादि। इन्हीं कार्योंसे अव्यक्त (प्रधान) तथा पुरुषका अनुमान किया जाता है, इसलिये 'लिङ्गयति ज्ञापयति इति लिङ्गम्' इस व्युत्पत्तिसे ये सब कार्य लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हैं। इसी प्रकार इनमें सत्त्व, रज, तथा तमोगुणका मेल होनेसे सब सावयव हैं। तथा बुद्ध्यादिकार्यों का साक्षात् अथवा परम्परासे प्रधानके अधीनही स्वरूप परिणाम होता है इसलिये ये परतन्त्र हैं। ये सब बुद्ध्यादि कार्योंके समान धर्म हैं। इन धर्मोंका वैपरीत्य अव्यक्त प्रकृतिमें होता है, अर्थात् प्रकृति हेतुमान् नहीं है क्योंकि सब कार्योंका मूल कारण है, यदि इसका भी कारण माना जाय तो अनवस्था दोष होजायगा। और आविर्भावशील न होनेसे सभी कार्योंमें प्रकृतिका सम्बन्ध होनेसे वह व्यापक है, तथा शान्त, घोर, मूढादिक्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय है, तथा सजातीय भेद शून्य होनेसे एक है, और कारण रहित होनेसे निराश्रय, तथा पुरुषके अनुमापक होने परभी अपने कारणका अनुमापक न होनेसे अलिङ्ग है। और सत्त्वादि गुणात्मक होनेसे निरवयव है, तथा कार्योत्पत्तिमें स्वयं समर्थ होनेसे स्वतन्त्र है ॥ १० ॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

प्रश्न—इन दोनोंका परस्पर में साधर्म्य तथा पुरुषमें वैधर्म्य क्या है ?

उत्तर—महदादि व्यक्त तथा प्रधानरूप अव्यक्त ये दोनों त्रिगुण हैं अर्थात् सत्त्व, रज-तथा तमोगुण वाले हैं, क्योंकि उक्त तीनों गुणोंकी समान अवस्थाही प्रकृति है और महत्तत्वादि प्रकृतिका कार्य होनेसे उनमें भी तीनों गुणोंका सम्बन्ध है। इसी तरह ये दोनों अविवेकि हैं, अर्थात् प्रकृतिसे अभिन्न हैं क्योंकि कार्य तथा कारणका अभेद होता है, और प्रकृति स्वयं ही अभिन्न है। तथा विषय अर्थात् ज्ञानसे भिन्न बाहर इन दोनोंका ग्रहण होता है, न कि बौद्धमतके समान ये ज्ञानके आकार हैं, ज्ञानाकार माननेसे बुद्ध्यादिक अनेक पुरुषके भोगके योग्य न रहेंगे क्योंकि भिन्न २ विज्ञान तत्तत्पुरुषसे ही जाने जाते हैं इसलिये साधारणता नहीं आ सकेगी। इसीलिये व्यक्त तथा अव्यक्त सामान्य हैं, अर्थात् वेश्याके समान सब पुरुषोंकी भोगयोग्यता इनमें समान है। तथा ये दोनों अचेतन अर्थात् अप्रकाशक होनेसे स्वयंप्रकाश चेतनसे भिन्न हैं। तथा प्रसवधर्मि अर्थात् समान तथा असमान परिमाणको सदा पैदा करनेवाले हैं, क्योंकि प्रधानसे बुद्धि तथा बुद्धिसे अहङ्कारादि कार्य सदा पैदा हुआ करते हैं। अब इन दोनोंसे पुरुष (आत्मा) के वैधर्म्यको सुनो—व्यक्त तथा अव्यक्त त्रिगुण हैं और पुरुष निर्गुण है, व्यक्ताव्यक्त अविवेकी हैं तो पुरुष विवेकी है, इसी तरह पुरुष अविषय, असाधारण, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है क्योंकि पुरुषसे किसीकी उत्पत्ति नहीं होती इत्यादि स्वयं जान लेना चाहिये। यद्यपि अहेतुमत्त्व, नित्यत्व इत्यादि व्यक्तका साधर्म्य तथा अनेकत्वरूप व्यक्तका साधर्म्यभी पुरुषमें हैं, तथापि त्रिगुणत्वादिरूप व्यक्त तथा अव्यक्तके साधर्म्यका अभाव पुरुषमें होनेसे व्यक्ता-व्यक्तका वैधर्म्य पुरुषमें आही जाता है ॥ ११ ॥

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

प्रश्न—त्रिगुणोंका स्वरूप प्रयोजन तथा उनके प्रवृत्तिका प्रकार क्या है ?

उत्तर—सत्त्व, रज, तथा तम नामके गुण क्रमसे सुख दुःख तथा मोहात्मक हैं अर्थात् सुख दुःख तथा मोह ही इनका स्वरूप है। और प्रकाश करना, प्रवृत्ति-करना, तथा नियमन याने रोकना यह क्रमसे इनका कार्य है, अर्थात् सत्त्वगुणसे प्रकाश होता है—(नाना प्रकारके कार्य करनेका ज्ञान होता है), और रजोगुणसे

नाना कार्य करनेमें प्रवृत्ति होती है, तथा तमोगुणसे कार्य करनेमें प्रवृत्ति रुक जाती है। और इन तीनों गुणोंमेंसे एक २ गुण दो दो गुणों को दबाकर अपनी २ मुख्य शान्तादि वृत्तिको प्राप्त करते हैं इसलिये परस्पर अभिभववृत्तिवाले हैं, और इनमेंसे एक २ गुण अपने २ कार्यके लिये दूसरे दो गुणों का सहारा लेकर प्रवृत्त होते हैं इसलिये परस्पराश्रय वृत्ति हैं, और संसारके सभी कार्योंके त्रिगुणात्मक होनेसे परस्पर जनक भी हैं, तथा स्त्री पुरुषके समान आपसमें संयोग-स्वभाव भी हैं, पर विशेषता यह है कि जब इनमेंसे एकगुण अधिक बलवान् होता है तो दो गुण दुर्बल होते हैं ॥ १२ ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

प्रश्न—विवेक ज्ञान में उपयोगी उक्त तीनों गुणोंके विशेषधर्म तथा उनके नाम क्या हैं ?

उत्तर—इनमेंसे पहिला सत्त्वगुण लघु (हलका) है तथा प्रकाश है क्योंकि सत्त्वगुणकी अधिकतामें ही शरीर में हलकापन पाया जाता है और इन्द्रियोंसे अपने २ विषयका ज्ञान भी शीघ्रतासे होता है, इसीलिये लघुत्व तथा प्रकाशकत्व को सत्त्वगुणका सांख्याचार्योंने लक्षण माना है, जिससे कार्योंका उद्गमन होता है। और दूसरा रजोगुण उपष्टम्भक अर्थात् प्रवर्त्तक और चल याने सक्रिय है, क्योंकि रजोगुणहीसे कार्य करनेमें प्रवृत्ति होती है और चलन भी उसीसे होता है, इसीलिये प्रवर्तकत्व और सक्रियत्व ये दोनों धर्म रजोगुणके लक्षण हैं। और तीसरा जो तमोगुण है वह गुरु (भारी) तथा वरणक-प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि तमोगुण से ही शरीर तथा इन्द्रियोंमें भारीपना और विषय-ज्ञान की रुकावट देखनेमें आती है, इसीलिये गुरुत्व तथा प्रतिबन्धकत्व ये दोनों तमोगुणके लक्षण सांख्यशास्त्रमें माने गये हैं। यद्यपि ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होनेसे मिलकर किसी एक कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकते, तो भी जैसे बत्ती तेल और आग इनके परस्पर विरुद्ध होने पर भी अन्धकार-नाश द्वारा रूप-प्रकाशरूप कार्यके लिये तीनों आपसमें विरोध छोड़ कर पदार्थों को प्रकाशित करते हैं उसी तरह उक्त तीनों गुण आपसमें विरोध छोड़ कर भोगापवर्गरूप पुरुषार्थके लिये आपसमें मिलकर कार्य कर सकेंगे ॥ १३ ॥

अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त अविवेकत्वादिधर्म प्रधान तथा महत्त्वादि व्यक्तोंमें क्यों माने जाते हैं?

उत्तर—त्रिगुणात्मक होनेसे महदादिक भी अविवेकित्वादि धर्मवान् हैं, जैसे-प्रकृति, इस प्रकार अन्वयि अनुमान द्वारा उक्त धर्मोंकी सिद्धिके समान व्यतिरेकी अनुमानसे भी होती है क्योंकि अविवेकित्वादि धर्मोंका जहां विपर्यय-अभाव है, वहां त्रैगुण्य भी नहीं है, अर्थात् जहां अविवेकित्वादि धर्मोंका अभाव है वहां त्रैगुण्यका अभाव है जैसे आत्मा, इस प्रकार व्यतिरेकि अनुमानसे भी प्रधान तथा महदादिकोंमें अविवेकित्वादि धर्मोंकी सिद्धि अबाधित है।

प्रश्न—प्रधान सिद्ध हो तो उसमें उक्त धर्म माने जांय तथा अन्वयी अनुमान से उसे दृष्टान्त भी दिया जाय, अभी उसकी सिद्धिमें ही सन्देह है?

उत्तर—यह नहीं हो सकता क्योंकि जैसे व्यावहारिक कार्योंमें यदि काले तन्तु हों तो उनसे काला कपड़ा ही बनता है, यह नियम है, उसी तरह महदादि व्यक्त कार्य भी जब त्रिगुणात्मक अविवेकित्वादि-धर्मवाले उपलब्ध होते हैं तो तद्रूप मूल कारण अव्यक्त भी मानना आवश्यक है ॥ १४ ॥

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

प्रश्न—अनुमानसे सिद्ध होने पर भी उपलब्धि नहीं होती इसलिये प्रधान कैसे सिद्ध हो सकेगा?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं क्योंकि पाषाणमें गन्ध रहने पर भी अनुत्कट होनेसे जैसे उसकी उपलब्धि नहीं होती वैसे सूक्ष्म होनेसे प्रधानकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु महदादि व्यक्त कार्योंसे भिन्न अव्यक्त अग्रिम हेतुओंसे सिद्ध होता है।

प्रश्न—महत्तत्वादिकों को ही सब कार्योंका कारण क्यों न मानें?

उत्तर—ये परिमित—अव्यापि होनेंसे घटादिकोंके समान अव्यक्त कारण

वाले हैं, जैसे घट मट्टीरूप अव्यक्त कारण वाला है ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा, कार्यकी अव्यक्तावस्था ही कारण होता है, महदादि कार्योंके कारण ही को प्रधान कहते हैं, इसका भी कारण माननेसे अनवस्थादोष आजायगा। इसी प्रकार समन्वय रूप हेतुसे भी अव्यक्तकी सिद्धि होती है, भिन्नोंकी समानरूपता को समन्वय कहते हैं, सुख दुःख तथा मोहसे सम्बद्ध बुद्ध्यादिक अध्यवसायादि पूर्वोक्त लक्षणवाले प्रतीत होते हैं, जो जिन रूपोंसे सम्बद्ध होते हैं वे उस स्वभाव अव्यक्त कारण वाले होते हैं, जैसे मट्टी, सोना इत्यादि कारणरूपोंसे सम्बद्ध घट मुकुटादि कार्य मट्टी आदि कारण वाले हैं, उसी तरह सुखदुःखमोहात्मक महदादि कार्योंका भी सुखदुःखमोहात्मक अव्यक्त कारण है, यह सिद्ध होता है। इसी तरह कारणकी शक्तिसे कार्यकी प्रवृत्ति होनेसे भी महदादि कार्योंका कारण मानना आवश्यक है क्योंकि असमर्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, और वह कारणमें रहने वाली शक्ति सांख्यमतमें कार्यकी अव्यक्तावस्था ही मानी गई है, यही तो तेलके पैदा करने वाली तिल्लियोंसे बालुओंका भेद है कि तिल्लीमें ही तेल अव्यक्तरूपसे रहता है न कि बालुओंमें, इसलिये महदादि कार्योंकी अव्यक्तावस्था अवश्य माननी चाहिये जिसे प्रधान या अव्यक्त कहते हैं।

इसी प्रकार संसारके सभी कारणोंमें विद्यमान ही कार्योंका अपने २ कारणोंसे प्रगट होना तथा अपने २ कारणोंमें लय होना, इस प्रकारके कारण कार्यके विभाग तथा अविभागसे भी यह सिद्ध होता है कि पृथिव्यादि भूतकार्योंका जिस मूल कारणसे आविर्भाव तथा उसमें लय होता है ऐसा मूल कारण ही अव्यक्त या प्रधान कहा जाता है, जिस प्रकार कछुवेके हाथ पैर इत्यादि शरीरके अवयव उसके शरीर में रहते हुए ही बाहर निकलते तथा भीतर पैठ जाते हैं उसी तरह प्रधानादि कारणोंमें विद्यमान ही महदादि कार्योंकी उत्पत्ति तथा उनमें लय होता है इसलिये अव्यक्तरूप कारण मानना आवश्यक है।

प्रश्न—अव्यक्तकी प्रवृत्तिका प्रकार क्या है ?

उत्तर—प्रलयकी अवस्थामें भी सत्त्व, रज तथा तमोगुण समान परिणाम वाले होते हैं अर्थात् अपने २ केन्द्रमें एक समान परिणाम होने पर भी परिणाम स्वभाव होनेसे सत्वकी सत्त्वरूपसे रजकी रजोरूपसे तथा तमकी तमोरूपसे प्रलयावस्थामें भी प्रवृत्ति हुआ करती है, और विसदृश परिणाम

होना ही सृष्टि है, परन्तु सृष्टिके समय मिलकर ये तीनों गुण महदादि कार्योंको पैदा करते हैं जिसमें एक गुणकी प्रधानता तथा बाकी दो गुणोंमें अप्रधानता रहती है जो विना विषम परिणामके नहीं हो सकती। उपमर्द्योपमर्दक भावसे होने वाली इस अनेक प्रकारकी गुणोंकी प्रवृत्तिसे ही सुख दुःख मोहादि भेदसे अनेक प्रकारके संसारमें विचित्र कार्य देखने में आते हैं।

प्रश्न—इन एक रूप गुणोंकी अनेक प्रकारसे विचित्र प्रवृत्ति क्यों होती है ?

उत्तर—जैसे एक मधुर रसवाला वर्षा का पानी भिन्न २ देशकी पृथ्वी पर पड़कर बेल, जामुन, नारङ्गी, नीबू इत्यादि फलोंके पेड़ोंकी जड़से जाकर फलोंमें खट्टा, मीठा, कडुवा इत्यादि विचित्र रसोंको पैदा करता है, उसी तरह तीनों गुणोंमें पूर्वोक्त गुणप्रधान भावके कारण एक २ गुणकी प्रधानतासे सुखादिरूप विचित्र भिन्न २ प्रवृत्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

प्रश्न—पुरुष-आत्माकी सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर—'जो २ सुख दुःख मोह रूप होता है वह दूसरेके लिये होता है जैसे शय्या, आसन, स्नान इत्यादि कार्य सुखादि रूप होने से दूसरे मनुष्योंके लिये होते हैं' इस व्याप्तिज्ञान से अनुमान किया जाता है कि सुख दुःख मोहात्मक प्रधान महदादि सभी अव्यक्त तथा व्यक्त पर (दूसरे) के लिये हैं, वही पर पुरुष है, अर्थात् सुखदुःखादिरूप पदार्थोंका सुखदुःखादिरूप भोग जड़ पदार्थोंको न हो सकनेसे चेतन आत्मा मानना आवश्यक है। पूर्वोक्त त्रिगुणत्व अविवेकित्वादि धर्मोंका विपर्यास होनेसे भी असंघात-सुखाद्यनात्मक परपुरुष चेतन सिद्ध होता है, यदि उस पुरुषकोभी संघातरूप माना जायतो वह भी किसी दूसरे सङ्घात पदार्थके लिये होनेसे अनवस्था दोष आजायगा, व्यवस्था हो सकते अव्यवस्था मानना ठीक नहीं है, इसलिये त्रिगुण तथा उनसे कार्योंके जड़ होनेसे आत्मामें त्रिगुणत्वादि धर्मोंका अभाव होनेके कारण चेतन पुरुषकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार जिस तरह रथ बिना सारथिकी प्रेरणासे नहीं चल सकता उसीतरह शरीरादि जड़ पदार्थोंमें भी बिना चेतनके अधिष्टानके चलना-फिरना इत्यादि कार्योंमें प्रवृत्ति नहींहो सकती इसलिये त्रिगुणोंका अधिष्टाता पुरुष है यह सिद्ध होता है। एवं भोक्तृभावसे भी पुरुषकी

सिद्धि होती है, षड्रसादिकोंके समान जो व्यक्ताव्यक्तरूप व भोग्य पदार्थोंका भोग करता है वह पुरुष आवश्यक है क्योंकि भोक्ताके बिना भोग्यपदार्थोंका सुख-दुःखात्मक भोग हो नहीं सकता, अथवा बुद्ध्यादिक दृश्य पदार्थोंमें द्रष्टाके विना दृश्यता नहीं आसकती इसलिये द्रष्टा आत्मा मानना आवश्यक है। इसी प्रकार शिष्ट पुरुषोंकी मुक्तिके लिये प्रवृत्ति होती है यह देखनेमें आता है, वह मुक्ति त्रिगुण होनेसे सुखदुःखात्मक प्रकृत्यादि पदार्थोंको नहीं होसकती इसलिये मुमुक्षु जनोंके प्रवृत्तिके उद्देश्य रूप मुक्तिका आधार अत्रिगुण चेतन पुरुषको मानना आवश्यक है ॥ १७ ॥

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

प्रश्न—आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न है या एक ?

उत्तर—आत्मा प्रत्येक शरीरोंमें भिन्न है क्योंकि आत्मामें नये २ शरीरके सम्बन्धरूप जन्म तथा उसका त्यागरूप मरण और चक्षु, श्रोत्र आदि करणोंकी व्यवस्था देखनेमें आती है, यदि सभी शरीरमें आत्मा एक माना जाय तो एकके पैदा होते सब पैदा हों एकके मरनेसे सब लोग मर जांय तथा एकके अन्धे या बहिरे होते ही सभी लोग अन्धे तथा बहिरे हो जांय, ऐसी अव्यवस्था हो जायगी इसलिये अनेक पुरुष मानना आवश्यक है। और यदि आत्मा सब शरीरमें एकही हो तो एक पुरुषकी धर्ममें प्रवृत्ति होनेसे सारे संसारके मनुष्य एकदम धर्महीमें प्रवृत्त होने लगेंगे, ऐसा नहीं होता, क्योंकि कोई धर्ममें प्रवृत्त है तो कोई अधर्ममें कोई ज्ञानमें तो कोई अज्ञानमें, इस प्रकार संसारके प्राणियों की प्रवृत्ति अलग २ देखनेमें आती है। इसी तरह सत्त्व, रज तम इन तीनों गुणोंके विपर्यय-परिणाम भेदसे भी आत्माकी अनेकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि कहीं २ केवल सुखही (जैसे देवताओंमें) कहीं २ केवल दुःखही (जैसे मनुष्योंमें) कहीं २ मोह जैसे नारकीयजीवोंमें पाया जाता है। अथवा त्रिगुण होने से आत्माओंका सात्त्विक-राजस तथा तामस भेद होता है इसलिये आत्मा अनेक हैं यह मानना आवश्यक है, यदि एक मानें तो एक पुरुषके सुखी या दुःखी होने पर सभी संसारी जीव सुखी या दुःखी हो जांयगें, और त्रिगुणोंके भेदसे नीच, ऊंच, मध्यम इत्यादि व्यवस्था भी नहीं बनेगी ॥ १८ ॥

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

प्रश्न—विवेकज्ञानमें उपयोगी आत्माके धर्म क्या हैं ?

उत्तर—पूर्वोक्त त्रिगुणत्वादि धर्मोंके विपर्ययरूप अत्रिगुणत्व-अविवेकित्व-अविषयत्व-असाधारणत्व-चेतनत्व तथा-अप्रसवधर्मित्व इन धर्मोंसे आत्मामें अग्रिम साक्षित्वादि धर्मोंकी सिद्धि होती है। जिनमेंसे चेतनता से आत्मामें साक्षिता और द्रष्टृता सिद्ध होती है, क्योंकि चेतन ही देखने वाला होता है न कि जड़, और साक्षी-(गवाह) ही को विषय देखाये जाते हैं, जिसे विवादादि विषय दिखाया—(समझाया) जाता है वह साक्षी होता है, जैसे लोकव्यवहारमें वादी तथा प्रतिवादी दोनों अपने २ झगड़ेके विषयको गवाहके सामने रखते हैं, उसी तरह प्रकृति भी अपने चरित्र रूप विषय को पुरुषके सामने रखती है। इसलिये पुरुष भी साक्षी होता है। जड़ पदार्थ या विषयको विषय नहीं दिखाया जाता इसलिये चेतन होनेसे तथा अविषय होनेसे पुरुष साक्षी है, और इसलिये द्रष्टा देखने वाला भी है। इसी प्रकार अत्रिगुण होनेसे आत्मा हीमें दुःखत्रयाभाव रूप कैवल्य स्वाभाविक सुखदुःखमोहाभावका कारण सिद्ध होता है। एवं अत्रिगुण होनेसे वह मध्यस्थ है यह भी सिद्ध होता है, क्योंकि सुखी सुखसे सन्तुष्ट होता हुआ तथा दुःखी दुःखसे बुराई करता हुआ मध्यस्थ नहीं होसकता इसलिये उन दोनोंसे रहित आत्मा ही मध्यस्थ या उदासीन कहा जाता है। इसी प्रकार विवेकी और अप्रसवधर्मी होनेसे आत्मामें कर्तृत्वादि गुण नहीं हैं यह भी सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

प्रश्न—सांख्यमतसे कृतिको बुद्धितत्त्वका धर्म और चेतनता आत्मामें मानें तो 'मैं जानता हुआ यह कार्य करता हूं' इस प्रतीति से प्राणिमात्रके अनुभवसे सिद्ध कृति तथा चैतन्य इन दोनों धर्मों की एकाधारता कैसे बनेगी ?

उत्तर—जब पूर्वोक्त रीतिसे उक्त दोनों धर्म भिन्न २ आश्रयमें सिद्ध हो चुके तब 'मैं करता हूं' यह प्रतीति भ्रमसे होती है, जिस भ्रमका कारण है पुरुष तथा प्रकृतिका संयोग, अर्थात् दोनोंका सन्निधान, इस प्रकृति तथा पुरुष के बिम्बप्रतिबिम्बभावहीसे जड़ भी लिङ्ग-महदादि सूक्ष्मान्त या बुद्धितत्त्व चेतन के ऐसा

प्रतीत होता है जिससे कृतिके आधार-प्रकृतिमें 'मैं यह प्रतीति होती है', और सत्व, रज, तमो गुणात्मक प्रकृतिमें ही वास्तविक कर्त्तृत्व रहने पर भी प्रकृति तथा पुरुषके सन्निधान हीसे 'मैं करता हूं' ऐसी उदासीन-आत्मामें प्रतीति होती है॥२०॥

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

प्रश्न—इन दोनों का संयोग क्यों होता है ?

उत्तर—पुरुष और प्रधान इन दोनों का संयोग दर्शन तथा कैवल्यके लिये होता है, अर्थात् भोग्य प्रधानके भोगात्मक दर्शनके लिये भोक्ता आत्माकी आवश्यकता है, तथा भोग्य प्रधानके साथ मिलकर आत्मा प्रधानके दुःखादि परिणामोंको अपनेमें मानता हुआ कैवल्य की प्रार्थना करता है, और वह प्रकृति पुरुष भेदज्ञान रूप कैवल्य मुक्ति बिना प्रधानके नहीं हो सकती इसलिये पुरुषको प्रधानकी आवश्यकता है। इस प्रकार दोनोंके कार्यमें दोनोंकी आवश्यकता होनेमें एक पङ्गु तथा एक अन्धेका दृष्टान्त है, कि जैसे बिना लंगडेके रास्ता नहीं दिखाई पड़ सकता इसलिये अन्धेको लंगड़ेकी, और बिना अन्धेके रास्ता चलना कठिन होनेसे लंगड़ेको अन्धेकी आवश्यकता है, इसी तरह प्रकृति तथा पुरुष इन दोनोंके कार्य बिना दोनोंके संयोगके नहीं हो सकते। उक्त भोग तथा अपवर्ग रूप दोनों कार्य भी प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे उत्पन्न सृष्टिके बिना नहीं हो सकते इसलिये भोग तथा अपवर्गके लिये ही प्रकृति पुरुष संयोगसे महदादि सृष्टि होती है ॥२१॥

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

प्रश्न—वह महदादि सृष्टिक्रम किस प्रकार है ?

उत्तर—सत्व-रज-तमो गुणात्मक प्रकृतिरूप मूल कारणसे महतत्त्व (बुद्धि) और उससे अहङ्कार आविर्भूत होता है, इन दोनों का लक्षण आगे कहेंगे। और उस अहङ्कार (अभिमान) से ग्यारह इन्द्रिय तथा पांच सूक्ष्म तन्मात्रायें ऐसे सोलह पदार्थों का समूह पैदा होता है। और इन सोलहमें से पांच सूक्ष्म तन्मात्राओंसे पृथिव्यादि पांच महाभूत पैदा होते हैं। जिनमें केवल शब्द तन्मात्रासे शब्द गुणवाला आकाश, शब्द तन्मात्रा सहित स्पर्श तन्मात्रासे शब्द तथा स्पर्श गुणवाला वायु, शब्दस्पर्श तन्मात्रा सहित

रूपतन्मात्रासे शब्द स्पर्श रूप गुणवाला तेज, शब्दस्पर्शरूप तन्मात्रा सहित रस]तन्मात्रासे शब्द स्पर्श रूप रस गुणोंका आधार जल और शब्द स्पर्श रूप रस तन्मात्रा सहित गन्ध तन्मात्रासे शब्द स्पर्श रूप रस गन्धवाली पृथिवी पैदा होती है ॥ २२ ॥

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

इनमें प्रकृति (अव्यक्त) का सामान्य तथा विशेष लक्षण १०—१३ कारिकामें कह चुके हैं, इसलिये क्रमप्राप्त प्रथम व्यक्त-महत्तत्त्व का लक्षण करते हुए गुरुजी कहते हैं कि हे शिष्यों ! संसारमें व्यवहार करने वाले सभी लोग पहिले ज्ञानेन्द्रियोंसे पदार्थों का प्रत्यक्ष करनेके बाद 'यह ऐसा है ऐसा नहीं' इस प्रकार मनसे संकल्प कर 'मैं इस कामका अधिकारी हूं' ऐसा अभिमान करनेके बाद 'मुझे यह अवश्य करना है' ऐसा निश्चय कर बाद उस काममें प्रवृत्त होते हैं । इन चार प्रकारके व्यापारोंमें से जो यह अन्तिम कर्तव्यता-निश्चय है यही बुद्धितत्त्वका विशेष धर्म होनेसे इतर-व्यावर्तक लक्षण होसकता है । उस बुद्धितत्त्वके विवेक-ज्ञानमें उपयोगी सात्त्विक तथा तामस आठ धर्म हैं, जिन्हें सांख्यमतमें भाव कहा गया है । जिनमें धर्म-ज्ञान-वैराग्य तथा ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक बुद्धि धर्म हैं । जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख तथा मुक्ति होती है उसे धर्म कहते हैं । प्रकृति तथा पुरुषके भेदज्ञान को ज्ञान माना गया है । यतमान-व्यतिरेक-एकेन्द्रिय-वशीकार ऐसे चार प्रकारके वैराग्य हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारलौकिक सभी प्रकारके विषयों से मनुष्यका चित्त हट जाता है । ऐश्वर्य भी एक बुद्धिकाही धर्म है जिससे अणिमा-लघिमा-गरिमा-महिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-वशित्व-ईशित्व इस प्रकारके आठ ऐश्वर्यों का आविर्भाव योगीके समान ज्ञानीको भी होता है । इन्हीं चारों बुद्धिधर्मोंके विपरीत अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-तथा अनैश्वर्य ये चार तामस बुद्धि धर्म कहे जाते हैं ॥ २३ ॥

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

प्रश्न—द्वितीय व्यक्त अहङ्कारका लक्षण क्या है ?

उत्तर—इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष करनेके बाद मनसे विचार कर 'इस काममें

मेरा ही अधिकार है, यह सब मेरे ही लिये है, जो कुछ हूं सो मैं ही हूं' इत्यादि रूपसे जो अभिमान प्राणिमात्र को होता है यही असाधारण धर्म होनेसे अहङ्कारका लक्षण है, इसीके अनुसार बुद्धि कर्त्तव्यका निश्चय करती है। इस अहङ्कारसे प्रकाशरूप इन्द्रिय-समुदाय तथा जड़रूपपांच सूक्ष्म तन्मात्रायें ऐसे दो प्रकारके कार्य पैदा होते हैं ॥ २४ ॥

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

प्रश्न—एक रूप अहङ्कारसे जड़ तथा प्रकाश रूप विरुद्ध कार्य कैसे पैदा होते हैं?

उत्तर—एक अहङ्कारके सात्त्विक-राजस-तामस ऐसे तीन भेद हैं जिनमेंसे सात्त्विक-प्रकाशरूप अहङ्कारसे प्रकाशरूप इन्द्रिय, तथा तामस-जड़रूप अहङ्कारसे जड़ पञ्चतन्मात्रायें पैदा होती हैं, ऐसा माननेसे उक्त दोष नहीं आता।

प्रश्न—जब सत्त्व तथा तमसेही सारे जड़ तथा प्रकाशरूप कार्य पैदा होते हैं तो रजोगुण व्यर्थ हो जायगा?

उत्तर—यद्यपि राजस अहङ्कारका कोई दूसरा कार्य नहीं है तो भी सत्त्व तथा तमोगुणके स्वयं क्रियारहित होने से सामर्थ्य होने पर भी वे अपने २ कार्योंको नहीं कर सकते इसलिये जब रजोगुण चञ्चल होनेसे सत्त्व तथा तमोगुणको चलाता है तब वे अपने २ कार्योंको करते हैं, अतः सत्त्व तथा तमोगुणमें क्रियाको पैदा-करनेके कारण राजस अहङ्कारभी उक्त दोनों जड़ प्रकाशरूप कार्योंके उत्पत्तिमें कारण है यह मानना आवश्यक है ॥ २५ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

उक्त दोनों प्रकारके कार्योंमेंसे सात्त्विक अहङ्कारके कार्य-ग्यारह प्रकाशरूप इन्द्रियोंमेंसे बाह्य-बाहरके दस इन्द्रिय इस प्रकार हैं—चक्षु (आँख), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसन (जीभ), त्वग् (शरीरका चमड़ा), ये पांच बाहरके विषयोंके ग्रहण करनेके कारण बाह्य ज्ञानेन्द्रिय हैं। और वाक्-जीभ (बोलनेका इन्द्रिय), पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा), उपस्थ (शिश्न) ऐसे पांच बाहरके काम करनेके कारण बाह्य कर्मेन्द्रिय हैं। ये सब सात्त्विकाहङ्कारसे पैदा हुये

हैं, इसलिये सात्त्विकाहङ्कारसे पैदा होना यही इन दसों बाह्येन्द्रियोंका सामान्य लक्षण है। ये सब आत्मारूप राजाके चिह्न होनेसे इन्द्रिय कहलाते हैं। बाह्यविषयोंमें रूप शब्द इत्यादि पांच गुणोंका ज्ञान विना चक्षु इत्यादि पांच इन्द्रियोंको माने नहीं हो सकता इसलिये ज्ञानेन्द्रियोंको मानना आवश्यक है। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके साधक कार्योंको २८ वीं कारिकामें कहेंगे ॥ २६ ॥

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

प्रश्न—ग्यारहवें इन्द्रिय मनका लक्षण क्या है?

उत्तर—इन ग्यारह इन्द्रियोंमें मन नामका इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूप है, क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय दोनोंकी मनके आधारहीसे अपने २ विषयोंमें प्रवृत्ति होती है। इस मनका लक्षण है—सङ्कल्प विकल्प करना। अर्थात् बाह्येन्द्रियोंसे पदार्थों का सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष होनेके बाद 'यह ऐसा है ऐसा नहीं' इस प्रकार अच्छी तरहसे विशेषण—विशेष्यभावका विवेचन मनही करता है इसलिये सङ्कल्प रूप विशेष धर्मसे मन भी 'एक उभयात्मक इन्द्रिय है' यह सिद्ध होता है।

प्रश्न—विशेष धर्म होनेसे मनको महत्तत्त्व तथा अहङ्कारके समान इन्द्रिय नहीं मानेंगे?

उत्तर—सात्त्विकाहङ्कारका कार्य होनेसे इसे भी इन्द्रिय मानना आवश्यक है।

प्रश्न—एक प्रकारके सात्त्विकाहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रियां कैसे हुईं?

उत्तर—शब्द रूप इत्यादि प्रत्यक्षसिद्ध विलक्षण गुणोंके भोगको देनेवाले विचित्र २ अदृष्ट (भाग्य) की सहायताके भेदसे इन्द्रियरूप कार्यमें विलक्षणता मानना आवश्यक है, अर्थात् जिस प्रकार सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंके वैषम्यके भेदसे बाह्यपदार्थोंमें भेद है इसी तरह उक्त गुणोंके परिणाम रूप अदृष्ट-विशेषसे इन्द्रियोंका भी भेद है, यह सिद्ध होता है ॥ २७ ॥

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

प्रश्न—दस बाह्येन्द्रियोंके विशेष व्यापार क्या हैं?

उत्तर—चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियोंका अपने २ रूपादि विषयोंको सामान्य रूपसे

जानना ही विशेष व्यापार है, और पांच वाग् इत्यादि कर्मेन्द्रियोंका क्रमसे बोलना-लेना-चलना-मलत्याग-तथा उपभोग अपना २ विशेष व्यापार है ॥ २८ ॥

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २६ ॥

प्रश्न—बुद्धि अहङ्कार तथा मन इन तीन आन्तर (भीतरी) करणोंका विशेष व्यापार क्या है ?

उत्तर—बुद्धि अहङ्कार तथा मन इन तीन करणोंके अपने २ पूर्वोक्त लक्षण जैसे-महत्तत्वका निश्चय करना, अहङ्कारका अभिमान तथा मनका सङ्कल्प करना ही विशेष व्यापार है। परन्तु इन तीनों करणोंके व्यापार दो प्रकारके हैं, एक असाधारण-(विशेष) दूसरा साधारण-(सामान्य), जिसमें विशेष व्यापार पहिले कह चुके हैं, प्राण-अपान-व्यान-उदान-तथा अपान इन पांच भीतरी वायुओंको ही अन्तःकरणत्रयका साधारण व्यापार कहते हैं, क्योंकि जीवनादिद्वारा यह पांच वायु सारे करणोंके व्यापारके बीज हैं ॥ २९ ॥

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे, तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त सारे करणोंके व्यापारोंका क्रम है या अक्रम ?

उत्तर—प्रत्यक्ष विषयके बाह्येन्द्रिय-मन-अहङ्कार तथा महत्तत्व इन चारों का अक्रम तथा क्रमसे भी व्यापार होता है, जैसे अन्धेरेमें बिजलीका प्रकाश होते ही शेरको सामने देखकर एकदम सङ्कल्प-अभिमान-तथा निश्चय होजाते हैं जिससे देखने वाला झटसे हट जाता है। इसी प्रकार मन्द प्रकाशमें पहिले सामान्य रूपसे आगे उपस्थित विषयको जानकर सावधान होता हुआ 'यह हथियार लिये हुए चोर आरहा है' ऐसा मनमें समझकर यह मुझे ही मारने आरहा है ऐसा अभिमान कर निश्चय करता है कि मैं यहांसे हट जाऊं, इस प्रकार बा तथा तीन भीतरी ऐसे चारों करणोंका क्रमसेभी व्यापार होता है। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष विषयोंमें भी बाह्येन्द्रियोंको छोड़ कर तीन करणोंके युगपत्-(एकदम) तथा क्रमसे व्यापार होते हैं, परन्तु वे प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं क्योंकि अनुमिति-शाब्दबोध तथा स्मरण अप्रत्यक्ष पदार्थोंमें प्रत्यक्ष पूर्वकही प्रवृत्त होते हैं अन्यथा नहीं, यह विशेष है ॥ ३० ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त करणोंके व्यापार केवल करणोंसे नहीं होसकते क्योंकि उनके सदा वर्त्तमान होनेसे सर्वदा उनके व्यापार होते रहेंगे, और 'यदि अकस्मात्(१) होते हैं' ऐसा मानें तो करण-व्यापारोंका साङ्कर्य होजायगा।

उत्तर—ये सब करण अपना २ व्यापार करते समय दूसरे करणोंके अपने २ व्यापारके सम्मुख होने रूप अभिप्रायको लेकर ही प्रवृत्त होते हैं इसलिये उनकी प्रवृत्तिमें परस्परका अभिप्राय कारण होनेसे व्यापारोंमें साङ्कर्य दोष नहीं आसकता, अर्थात् जैसे अपने २ छड़ी, तलवार इत्यादि शस्त्रास्त्रोंको लिये बहुतसे लुटेरे आदमी दूसरेको लूटनेके लिये इशारा कर पहिले छिपे रहते हैं बाद इशारा पाते ही अपने २ ही हथियारों द्वारा लूटना शुरू करते हैं नकि एक दूसरेके हथियारसे, उसी तरह एक २ करण दूसरे करणोंके अभिप्राय से ही अपने २ व्यापारों को करते हैं इसलिये उक्त साङ्कर्य दोष नहीं आसकता।

प्रश्न—यह दृष्टान्त विषम है क्योंकि लुटेरे चेतन हैं इसलिये एक दूसरेके अभिप्रायसे लूटता है यह ठीक है परन्तु करण तो जड़ हैं इसलिये वे दूसरेके अभिप्राय से अपने व्यापारमें प्रवृत्त कैसे होसकते हैं इसलिये क्या इनका अधिष्ठाता व्यापारमें प्रवृत्त कराने वाला मानना चाहिये?

उत्तर—भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके कारण जड़ करणोंकी स्वयं प्रवृत्ति होसकती है तो उनका प्रवर्त्तक चेतन है ऐसा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है, इस बातको स्वयं 'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' इत्यादि ५७ वीं कारिकामें सिद्ध करेंगे॥

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधा हार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च॥ ३२॥

प्रश्न—करण कौनसे हैं?

उत्तर—बुद्धि, अहङ्कार तथा ग्यारह इन्द्रिय ऐसे तेरह सांख्यशास्त्रमें करण कहे जाते हैं, जिनमेंसे कर्मेन्द्रियोंका अपने २ विषयोंको ग्रहण करना, बुद्धि अहङ्कार मन इन तीनोंका प्राणादि वायुओंके द्वारा शरीरको धारण करना, तथा ज्ञानेन्द्रियोंका अपने २ विषयको प्रकाशित करना व्यापार है।

प्रश्न—व्यापार (क्रिया)के सकर्मक होनेसे वे कर्म (कार्य) कौनसे और कितने हैं।

उत्तर—इस तीन प्रकारके क्रिया के हार्य-धार्य-प्रकाश्य ऐसे तीनों कार्य दस २

---

(१) विना कारणके।

प्रकारके होते हैं, क्योंकि कर्मेन्द्रियोंके ग्रहणयोग्य, वचन-आदान इत्यादि विषय लौकिक तथा अलौकिक इस भेदसे दो प्रकारके होनेसे दस प्रकारके होते हैं। तथा बुद्धि, अहङ्कार, मन इन तीनोंके धारणयोग्य-शरीरादिक कार्य पृथिवी आदि पांच महाभूतोंसे पैदा हुये हैं जो लौकिक तथा अलौकिक भेदसे दो प्रकारके होनेसे धार्य कार्य भी दस प्रकारका है, इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियोंसे प्रकाश करने योग्य-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ऐसे पांच विषय भी दिव्य तथा अदिव्य इन दो भेदों से दो प्रकारके होनेसे दस प्रकारके हैं ॥ ३२ ॥

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

प्रश्न—इन तेरह करणोंके अवान्तर भेद कितने हैं ?

उत्तर—इन तेरहों करणोंमेंसे महत्तत्व, अहङ्कार तथा मन ये तीन भीतरी करण हैं और ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय ये दस बाह्य करण हैं, जो तीनों भीतरी करणोंके सङ्कल्प, अभिमान तथा अध्यवसायरूप व्यापार करनेमें द्वार होते हैं, जिसमें से ज्ञानेन्द्रिय विषयके प्रत्यक्ष द्वारा तथा कर्मेन्द्रिय अपने २ व्यापारके द्वारा तीनों भीतरी करणोंके विषयमें प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार बाह्य दस करण वर्त्तमान विषयमें प्रवृत्त होते हैं, और तीनों अन्तःकरण वर्त्तमान, भूत तथा भविष्य ऐसे त्रिकालविषयोंमें प्रवृत्त होते हैं, यह भी दोनों प्रकारके करणों की विशेषता है। अनुमान तथा शब्दकी सहायतासे भूत तथा भविष्य विषयमें और इन्द्रियोंकी सहायतासे वर्त्तमान विषयमें भी तीन अन्तःकरणों की प्रवृत्ति होती है ॥

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

प्रश्न—इनमेंसे बाह्यकरणरूप दस इन्द्रियोंके विषय क्या हैं ?

उत्तर—इन दस इन्द्रियोंमेंसे पांच ज्ञानेन्द्रियोंके विशेष (स्थूल) पांच पृथिवी, जल इत्यादि तथा अविशेष (अतीन्द्रिय) पञ्च तन्मात्रा क्रमसे हमलोगोंके तथा योगियोंके प्रत्यक्ष विषय हैं। एवं पांच कर्मेन्द्रियोंमेंसे वागिन्द्रिय शब्दका जनक होनेसे स्थूल शब्दको ही विषय करता है, सूक्ष्मरूप शब्द वागिन्द्रियका विषय नहीं होता क्योंकि वागिन्द्रिय तथा सूक्ष्मशब्द दोनों एक ही अहङ्कारके कार्य हैं। बाकीके हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ इन चार कर्मेन्द्रियोंके पांच २ विषय होते हैं क्योंकि हाथ इत्यादिकोंसे ग्रहण करने योग्य पदार्थ शब्दादि पञ्च स्वरूप हैं ॥३४॥

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

प्रश्न—क्या अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे बाह्येन्द्रियोंमें कोई विशेषता है ?

उत्तर—है, क्योंकि मन तथा अहङ्कार सहित बुद्धि जिस कारण सभी बाह्य इन्द्रियोंसे प्राप्त किये विषयोंको पुरुषके भोगके लिये निश्चय करती है, इस कारण तीनों भीतरी करण द्वारि-प्रधान हैं और बाकीके दस बाह्य इन्द्रिय द्वार-अप्रधान हैं, क्योंकि साक्षात् या परम्परासे बाह्येन्द्रियोंके द्वारा ही भीतरी करण विषयोंमें अपना २ व्यापार करते हैं ॥ ३५ ॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

प्रश्न—तीन भीतरी करणोंमें भी कोई विशेषता है ?

उत्तर—तीनोंमें भी बुद्धि ही की प्रधानता है क्योंकि बत्ती, तेल, आग इनके समान परस्पर विरुद्ध भी सत्व, रज तथा तमो गुणके विकाररूप ये सब गुण विशेष परिणामरूप-मन बाह्येन्द्रिय अहङ्कारादिक अन्धकार निरासद्वारा रूपप्रकाशके लिये प्रदीपके समान मिलकर सारे आत्माके भोगयोग्य पदार्थोंको भोगके लिये बुद्धिको प्रकाशित कर देते हैं, जिस तरह ग्रामाध्यक्ष गृहस्थोंसे कर लेकर विषयाध्यक्षको और विषयाध्यक्ष सर्वाध्यक्षको और वह राजाको देता है, अर्थात् बाह्येन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष कर मनको और मन सङ्कल्प कर अहङ्कारको और अहङ्कार अभिमान कर सब करणोंमें श्रेष्ठ-बुद्धिको विषयोंका समर्पणकर देते हैं इसलिये बुद्धि ही सब करणों में प्रधान है ॥ ३६ ॥

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

प्रश्न— तीन भीतरी करणोंमें से बुद्धि को ही क्यों विषय दिये जाते हैं, बुद्धि अहङ्कार या मनको विषयसमर्पण क्यों नहीं करती, अर्थात् बुद्धि ही प्रधान क्यों ?

उत्तर—पुरुषार्थ-भोग के प्रयोजक होनेसे उसका जो प्रत्यक्ष साधन है वही प्रधान हो सकता है, बुद्धि ही आत्माके साक्षात् भोगोंका साधन है क्योंकि उसीके निश्चयके अनुसार आत्माको भोग होता है इसलिये वही प्रधान है । जैसे सर्वाध्यक्ष-प्रधानमन्त्री ही राजाके सब राजकार्योंका साधक होनेसे प्रधान होता है और बाकीके ग्रामाध्यक्षं इत्यादि उसके अङ्ग होते हैं, वैसे बुद्धि ही सारे आत्माके भोगों

को सिद्ध कर देती है और विवेकज्ञानके समय वही प्रकृति आदि जड़ तथा चेतनकी विलक्षणताको (जिसे जानना बहुत कठिन है) बता देती है इसलिये तीनों अन्तःकरणोंमें भी बुद्धि ही प्रधान है ॥ ३७ ॥

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त विशेष तथा अविशेष क्या हैं ?

उत्तर—सूक्ष्म शब्दादि पांच तन्मात्रा ही अविशेष हैं क्योंकि उनमें उपभोग योग्य शान्तत्वादि धर्म नहीं हैं । उन पांचोंसे स्थूल पांच पृथिवी आदि भूत पैदा हुए हैं, जिन्हें साङ्ख्यशास्त्रमें विशेष कहा गया है, क्योंकि इनमेंसे कोई २ सत्त्वप्रधान होनेसे शान्त, सुखदायक, प्रसन्न और लघु हैं, और कोई रजोगुण प्रधान होनेसे घोर तथा दुःखकर और कोई २ तम प्रधान होनेसे मोहको करनेवाले गुरु हैं इसलिये इनमें भोगकी योग्यता है ॥ ३८ ॥

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

प्रश्न—विशेष कितने हैं ?

उत्तर—ये विशेष सूक्ष्म (लिङ्गशरीर), मातापितृज (स्थूल शरीर) और प्रभूत (पर्वत वृक्षादि महाभूत) ऐसे तीन प्रकारके हैं, जिनमेंसे सूक्ष्म तन्मात्रादिकोंसे पैदा हुये सूक्ष्मशरीररूप विशेष नियत अर्थात् मुक्तिकाल तक रहते हैं, और मातापिताके खाये हुए अन्न रससे पैदा भये शुक्र तथा शोणित इत्यादिकोंसे पैदा हुये स्थूल शरीर और प्रभूतरूप दो विशेषोंकी निवृत्ति होती है अर्थात् इन दो विशेषोंका नाश हो जाता है ॥ ३९ ॥

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

प्रश्न—सूक्ष्म शरीर क्या है तथा उसके धर्म क्या हैं ?

उत्तर—महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन एकादश इन्द्रिय तथा पञ्च तन्मात्रा इनका समुदायरूप पूर्वोक्त सूक्ष्म शरीर आदि सृष्टिमें प्रधानसे प्रगट होता है, तथा असक्त नाम अव्याहत है जिससे उसका पत्थर तकमें प्रवेश होता है और नियत नाम प्रत्येक आत्मामें अलग २ है तथा निरुपभोग अर्थात् स्थूल शरीरके विना भोगमें असमर्थ है और धर्मादि आठ भावोंसे सम्बद्ध होता हुआ यही सूक्ष्मशरीर पूर्व २ स्थूल शरीरको छोड़ कर नये २ स्थूलशरीरोंको ग्रहण करता है ॥ ४० ॥

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

प्रश्न—अहङ्कार तथा इन्द्रियसहित बुद्धिको ही संसारके भोग क्यों नहीं होते, तन्मात्रापर्यन्त पृथक् सूक्ष्म शरीर माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जिस प्रकार विना आधारके चित्र नहीं हो सकता अथवा विना वृक्षादिकोंके छाया नहीं पड़ती, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरोंके विना आत्माका अनुमापक होनेसे लिङ्गपदसे ग्राह्य बुद्ध्यादि तेरह करण निराधार नहीं रह सकते, इसलिये सूक्ष्म शरीर मानना आवश्यक है ॥ ४१ ॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

प्रश्न—सूक्ष्म शरीरके संसरणका कारण और उसके संसारका प्रकार क्या है ?

उत्तर—धर्मादिरूप निमित्त और धर्मादिकोंसे होने वाले स्थूल शरीरादिरूप कार्य इन दोनोंके सम्बन्धसे भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके लिये प्रकृतिकी व्यापकताके सामर्थ्यसे यह सूक्ष्म शरीर नटके समान व्यापार करता है, अर्थात् जैसे नट कभी राम कभी कृष्ण बनकर उनके चरित्रोंको दिखाता है उसी तरह यह सूक्ष्म शरीर भी देवता मनुष्य इत्यादिकोंके स्थूल शरीरको धारण कर संसारमें गमनागमनको करता रहता है ॥ ४२ ॥

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

प्रश्न—सूक्ष्म शरीरके वर्णनमें बतलाये हुए भाव पदार्थ क्या हैं ?

उत्तर—जो धर्मादि आठ भाव सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक हैं, वे ही प्राकृतिक साथ पैदा हुये या जबतक आधार पदार्थ है तबतक रहनेवाले हैं, जैसे महत्तत्व अहङ्कार इत्यादि, पर गौडपादाचार्यके मतसे साथ पैदा हुये कर्मादिभाव सांसिद्धिक होते हैं और बुद्धितत्वके साथ जिनके शरीर पैदा हुये हैं ऐसे सनकादि सिद्धोंके प्रकृतिसे पैदा हुये भाव प्राकृत होते हैं। और उपायोंके करनेसे पैदा हुये जैसे वाल्मीकि आदिकोंके धर्मादि भाव जो असांसिद्धिक हैं वे ही वैकृत बोले जाते हैं या जो भाव कभी २ रहते हैं वे वैकृत होते हैं। धर्मादिभाव मुख्यतः बुद्धितत्वरूप करणमें रहते हैं, पर धर्मादि भावोंसे पैदा हुई कलल बुद्बुद इत्यादि अवस्था भी भाव कही जाती है, इसी आशयसे मूलमें कहा है

'कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः', अर्थात् धर्मादिभावोंसे पैदा हुई गर्भमें रहने वाले प्राणियोंकी कलल, बुद्बुद, मांसपेशी इत्यादि अवस्था तथा गर्भसे बाहर निकलनेके बाद कौमार-यौवन-वार्द्धक्यादि अवस्थारूप भाव कार्य-स्थूल शरीरमें रहते हैं ॥

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

प्रश्न—किस २ निमित्तका कौन २ विशेष नैमित्तिक है ?

उत्तर—धर्मरूप निमित्तसे स्वर्गादि लोकमें गमन होता है अर्थात् देवादि शरीररूप कार्य प्राप्त होता है, और अधर्म निमित्तसे भूतल इत्यादि नीचेके लोगोंमें गमन होता है अर्थात् मृत्युलोकमें पशु इत्यादि शरीर तथा नरकमें नारकीय शरीर-रूप कार्य होता है । और ज्ञानरूप निमित्तसे अपवर्ग (मुक्ति) रूप कार्य होता है तथा अज्ञानसे बन्धनरूप कार्य होता है ॥ ४४ ॥

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार पूर्वोक्त केवल वैराग्य रूप निमित्तसे प्रकृति महत्तत्व इत्यादिकोंको आत्मा समझ कर उपासना करनेसे उन्हींमें लयरूप कार्य होता है, और रजो-गुणके कार्य राग-प्रेम काम, क्रोध इत्यादि निमित्तोंसे संसार रूप कार्य तथा पूर्वोक्त अणिमादि आठ ऐश्वर्यरूप निमित्तसे इच्छा की रुकावट न होना, अर्थात् चाहे जिस किसी लोक में जानेकी इच्छाका नाश न होना-कार्य होता है, और उक्त ऐश्वर्योंके न होने से इच्छाका नाश होना ही कार्य होता है ॥ ४५ ॥

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

यह पूर्वोक्त निमित्त तथा नैमित्तिकोंका भेद बुद्धितत्त्वकी ही सृष्टि है जिसके संक्षेपमें विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि और सिद्धि ऐसे चार भेद हैं, जिनमें विपर्यय, नाम, अज्ञान या अविद्या तथा पूर्वोक्त करणोंके विनाशसे होने वाली अशक्ति (असामर्थ्य)-ये दो बुद्धिके धर्म हैं, इसी प्रकार तुष्टि तथा सिद्धि भी बुद्धिके ही धर्म हैं जिनका आगे विस्तारसे वर्णन करेंगे । इनमें से विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि इन तीनोंमें पूर्वोक्त आठ बुद्धिके धर्मादि भावोंमेंसे ज्ञानको छोड़ कर सातका, तथा सिद्धिमें ज्ञानका अन्तर्भाव, हो जाता है। परन्तु इस संक्षिप्त चार भेदोंका-सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणोंमेंसे एक २ या दो २ गुणोंके अधिक बलवान् होने तथा एक

एक या दो २ गुणोंका कम बल होनेसे जो वैषम्य होता है जिससे एक एक या दो दो के अभिभव (तिरस्कार) होनेके कारण गुणोंके पचास भेद होते हैं ॥४६॥

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

प्रश्न—पचास विस्तृत बुद्धिसर्गोंके भेद कौनसे हैं ?

उत्तर—जो अज्ञानरूप विपर्यय संसारका मुख्य बीज है जिसके अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष तथा अभिनिवेश ऐसे पांच भेद हैं, उन्हें सांख्यशास्त्रमें क्रमसे तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र कहते हैं। ये पांच विपर्ययके भेद हैं। और बुद्धितत्त्व तथा ग्यारह इन्द्रिय रूप करणोंकी विकलतासे होने वाली अशक्ति अठ्ठाइस प्रकारकी और तुष्टि नव प्रकारकी तथा सिद्धि आठ प्रकार की है॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

प्रश्न—इनमेंसे पांच प्रकारके विपर्ययोंके अवान्तर-भीतरी भेद कितने हैं ?

उत्तर—प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार तथा पांच सूक्ष्म तन्मात्रा रूप आठ अनात्म पदार्थोंके आत्मज्ञानरूप अविद्याको सांख्योंने तम कहा है इसके आठ पदार्थ विषय होनेसे यह तम आठ प्रकारका होता है। अणिमादि रूप आठ प्रकारके ऐश्वर्यको पाकर 'मैं सिद्ध हूँ' इस प्रकारके आत्मामें अहंभाव रूप अभिमानको योगदर्शनमें अस्मिता कहा है उसीको सांख्यमतमें 'मोह' कहा जाता है, इसके भी आठ प्रकारके ऐश्वर्य विषय होनेसे आठ भेद हैं। लौकिक तथा अलौकिक दो प्रकारके शब्द, स्पर्श आदि पांच विषयोंमें चित्तकी आसक्तिको योगदर्शन में राग तथा सांख्यमें महामोह माना है, इसके दस विषय होनेसे दस भेद हैं। दूसरे पुरुषसे भोगे जाने वाले दिव्य अदिव्य भेदसे दस, पांच शब्दादि विषय तथा आठ प्रकारके अणिमादि ऐश्वर्योंमें बुराईको द्वेष कहते हैं जिसे सांख्यमें तामिस्र कहा गया है, यह दश विषय तथा आठ ऐश्वर्योंमें होता है इसलिये इसके अठारह भेद हैं। जब देवतादि सात्विक प्राणी आठ प्रकारके अणिमादि ऐश्वर्यको पाकर दिव्यादिव्य दस शब्दादि विषयोंको भोगते हैं तो दैत्यादि तामस प्राणी उनका घात न करे ऐसा उन्हें भय होता है इसी भयको अभिनिवेश या 'अन्धतामिस्र' कहते हैं इसके भी पूर्वोक्त अठ्ठारह विषय होनेसे अठ्ठारह भेद हैं। इस प्रकार सब मिल कर विपर्ययके बासठ भेद हैं ॥ ४८ ॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

प्रश्न—अशक्तिके अठ्ठाइस भेद कौनसे हैं ।

उत्तर—१ बाधिर्य (बहिरापन) २ कुष्टिता (स्पर्शन शक्तिका नाश) ३ अन्धत्व (अन्धेपना) ४ जडता (जिह्वाशक्तिका नाश) ५ अजिघ्रता (घ्राणेन्द्रियकी विकलता) ६ मूकता (गूंगापन) ७ कौण्य (लूलापन) ८ पङ्गुत्व (लंगडापन) ९ क्लैब्य (नपुंसकता) १० उदावर्त्त (पुरीषशक्तिका नाश) ११ तथा मन्दता (मानसिकशक्तिका नाश) ऐसे ग्यारह इन्द्रियवध हैं जिनसे बुद्धिवध होनेके कारण ग्यारह प्रकारके और नौ प्रकारकी तुष्टिके तथा आठ प्रकारकी सिद्धिके विपर्यय-(विपरीतता) से होने वाले स्वरूपसे बुद्धिके वध सत्रह होते हैं इस प्रकार सब मिलाकर अठ्ठाइस बुद्धिके वधोंको ही सांख्यशास्त्रमें अठ्ठाइस प्रकारकी अशक्ति माना गया है ॥ ४९ ॥

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

प्रश्न—तुष्टिके नौ भेद कौनसे हैं ?

उत्तर—चार प्रकारकी-प्रकृति, उपादान काल तथा भाग्य नामकी आध्यात्मिक (भीतरी तत्त्वोंके विषयमें होनेवाली) तथा पांच प्रकारके विषयोंमें उपरति होनेसे पांच प्रकारकी बाह्य ऐसी नौ प्रकारकी तुष्टि है। (१) जिसमेंसे प्रकृत्यादिकोंसे भिन्न आत्मतत्त्वके साक्षात्कार से मुक्ति अवश्य होती है परन्तु वह साक्षात्कार प्रकृतिका ही परिणाम होनेसे प्रकृतिसेही हो जायगा, उसके लिये ध्यानादिकोंकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा समझ कर ध्यानादि यत्न छोड़नेको **प्रकृति** तुष्टि 'कहते हैं, जिसकी '**अम्भ**' ऐसी भी संज्ञा सांख्यशास्त्रमें कही है। (२) और जिसे केवल प्रकृतिसे ही उक्त साक्षात्कार नहीं हो सकता यदि हो तो प्रकृतिके सर्वसाधारण होनेसे सभीको होगा इसलिये संन्यास लेनेसे होगा, ध्यानादिकोंकी क्या आवश्यकता है ? ऐसा समझकर या किसीके उपदेशसे जो तुष्टि होती है, उसे **उपादान** तुष्टि कहते हैं जिसकी '**सलिल**' ऐसी शास्त्रमें संज्ञा दी है। (३) और किसीको संन्यास लेने पर भी समय पूर्ण होने पर ही ज्ञानकी सिद्धि मिल सकेगी ऐसे उपदेशसे जो तुष्टि होती है उसे **काल** नामकी तुष्टि कहते हैं, जिसकी सांख्यमें '**मेघ**' या '**ओघ**' ऐसा संज्ञा है। (४) समय पूरा हो या न हो भाग्यमें रहनेसे ही आत्म-साक्षात्कार

होता है ऐसा समझ कर भाग्य ही पर भरोसा रखनेसे जो तुष्टि होती है उसे भाग्य नामकी तुष्टि कहते हैं जिसका 'वृष्टि' ऐसा शास्त्रमें नाम रक्खा गया है। ये चार 'प्रकृति भिन्न आत्मा है' ऐसा जान कर आलस्यादि कारणोंसे ध्यानादिक करनेमें प्रवृत्ति न होनेसे तुष्टि होती हैं इस कारणसे इन्हें आध्यात्मिक तुष्टि कहते हैं। इसी प्रकार आत्मासे भिन्न प्रकृत्यादि पदार्थोंको आत्मा समझ कर जो विषयोंसे उपरति (वैराग्य) से बाह्य तुष्टि होती है वह वैराग्यके कारण विषयोंके पांच होनेसे पांच प्रकारकी है। जैसे पांच वैराग्यके विषय हैं उसी तरह उपरति भी अर्जन (पैदा करना), रक्षण (रक्षा करना), क्षय (नाश), भोग (उपभोग) तथा हिंसा (द्रोह) इस प्रकार पांच दोषोंकी दृष्टिसे होती है। इसलिये भी यह तुष्टि पांच प्रकारकी है (१) भीख मांगना, सेवा करना इत्यादि पैदा करनेके उपायोंमें बड़ा दुःख है ऐसा दोष समझ कर जो सन्तोष होता है उसे प्रथम 'पार' नामक तुष्टि कहते हैं। (२) किसी तरह पैदा किये धन संपत्तिको चोर, डाकू इत्यादिकोंसे रक्षा करनेमें भी बड़ा कष्ट है यह दोष देख कर जो सन्तोष होता है उसे दूसरी 'सुपार' नामकी तुष्टि कहते हैं। (३) किसी प्रकार रक्षा किये धनका भोगसे क्षय हो जायगा इस प्रकार विनाश दोष-दृष्टिसे जो तुष्टि होती है उसे 'पारापार' ऐसा कहते हैं। (४) तथा विषयोंके भोगसे और भी तृष्णा बढ़ती जाती है और उनके न मिलनेसे कामी पुरुषको नाना प्रकारका दुःख ही होता है इस प्रकार भोगमें दोष-दृष्टिसे जो तुष्टि होती है उसे 'अनुत्तमांभ' (५) तथा विना प्राणियोंके घात और डाहके विषयोंका भोग होना कठिन है इस प्रकार हिंसादोषके विचारसे जो सन्तोष होता है उस पांचवीं तुष्टिको 'उत्तमाम्भ' ऐसा कहते हैं॥ ५०॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥५१॥

प्रश्न—आठ प्रकारकी सिद्धियोंके भेद कौनसे हैं?

उत्तर—ऊह, शब्द, अध्ययन तथा तीन प्रकारके दुःखोंका विघात, सुहृत्प्राप्ति तथा दान ऐसी आठ सिद्धियां हैं। जिनमेंसे आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखोंकी विघात रूप तीन सिद्धियां मुख्य फल होनेसे मुख्य सिद्धियां हैं और बांकी पांच उनका साधन होनेसे गौण हैं। जिनमें विना उपदेशादिके पूर्वजन्मके अभ्यासके बलसे स्वयं विचारसामर्थ्य रूप सिद्धिको ऊह कहते हैं। जो दूसरेके सांख्य

शास्त्रके पाठको सुनकर क्रियाकारकादिरूप पदसमुदायात्मक शब्दसे ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द सिद्धि, तथा गुरुमुखसे शास्त्रके अर्थका ज्ञान होना अध्ययन नामकी सिद्धि कहलाती है। तथा दुःखविघातरूप सिद्धियां दुःखके तीन होनेसे तीन प्रकाराकी हैं, यह प्रसिद्ध ही है। ज्ञानी मित्रकी प्राप्तिसे ज्ञान प्राप्त होता है इसलिये सुहृत्प्राप्ति तथा 'दैप् शोधने' इस धात्वर्थके अनुसार विवेक ज्ञानसे बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि अथवा धनदानसे भी ज्ञानी प्रसन्न होकर दान देता है इसलिये दान भी एक सिद्धि है। परन्तु वाचस्पति मिश्रने इन गौण पांच सिद्धियोंमें भी कारण-कार्य भावके अनुसार पहिले अध्ययन सिद्धि जो अक्षर-ज्ञानरूप है तथा उससे होने वाले अर्थज्ञानरूप शब्दसिद्धिका उसके बाद वर्णन कर बाद में ऊह रूप सिद्धि कही है, जिनमें पहिली दो श्रवण और ऊहको मनन कहा है और इनके बाद गुरु इत्यादि ज्ञानी मित्रकी प्राप्ति और अन्तमें विवेकज्ञानकी शुद्धिरूप दान सिद्धि कही है।

इन आठ सिद्धियोंकी कारिकोक्त क्रमसे **तार १ सुतार २ तारतार ३ प्रमाद ४ मुदित ५ मोदमान ६ रम्यक ७ तथा सदामुदित ८** ऐसी सांख्य शास्त्रमें संज्ञायें बतलाई हैं। पूर्वोक्त चार प्रकारके विपर्ययादि बुद्धिसर्गोंमेंसे सिद्धिको छोड़ कर विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि ये तीनों मुमुक्षुको त्याज्य हैं क्योंकि सिद्धिकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक हैं और सिद्धि ही ग्राह्य है॥ ५१॥

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः॥५२॥

प्रश्न—भोगरूप पुरुषार्थ विना विषयोंके नहीं हो सकता इसलिये आकाशादि पांच जड़ पदार्थों की सृष्टि मानना ठीक है परन्तु प्रकाशरूप अतीन्द्रिय महत्तत्वादि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सृष्टि क्यों मानी जाय?

उत्तर—विना भाव-विषयोंके लिङ्ग-महत्तत्वादि अतीन्द्रिय पदार्थ भोगके साधक नहीं हो सकते और महत्तत्वादि लिङ्ग पदार्थोंके विना विषयोंमें भोग साधनता नहीं आसकती अर्थात् विषय केवल अपने स्वरूपसे भोगके साधक नहीं हो सकते, यदि ऐसा हो तो सबको सब विषयोंके भोग होने लगेंगे, इसलिये विषयों का ज्ञान ही भोगका साधन मानना पड़ेगा और वह ज्ञान विना इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके हो नहीं सकता, इस लिये दोनोंकी आवश्यकता होनेसे अनुमित महत्तत्वादि पदार्थोंकी सृष्टि तथा इन्द्रियोंसे

प्रत्यक्ष होनेवाले भाव-आकाशादि भूत पदार्थोंकी भी सृष्टि मानी गयी है ॥५२॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

प्रश्न—भौतिक सृष्टि कितने प्रकार की है ?

उत्तर—१ ब्राह्म २ प्राजापत्य ३ ऐन्द्र ४ पैत्र ५ गान्धर्व ६ याक्ष ७ राक्षस तथा ८ पैशाच ऐसे आठ प्रकारकी देवजातिकी सृष्टि तथा पशु (चौपायें-गाय आदि) पक्षि (पंख वाले गीध आदि) सरीसृप (सरकने वाले सांप आदि) कीट (कीड़े, मकोड़े आदि) तथा स्थावर (एक जगह रहने वाले पेड़ इत्यादि) ऐसे पांच प्रकारकी तिर्यग्योनियोंकी सृष्टि, और एक प्रकारकी मनुष्योंकी (१)सृष्टि ऐसी संक्षेपसे सब मिलाकर चौदह प्रकारकी भौतिक सृष्टि मानी गई है ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

प्रश्न—इस चौदह प्रकारकी विस्तृत भौतिक सृष्टिका संक्षेप क्या है ?

उत्तर—आठ प्रकारकी जो दैव-सृष्टि भूलोकसे ऊपरी स्वर्गादि लोकमें है वह सत्वविशाल है, अर्थात् रज तथा तमके रहने पर भी उसमें सत्वगुण अधिक है, और नीचे गिरने वाली तिर्यग्योनिकी पांच जातियों में सत्व तथा रज के रहने पर भी तमोगुणकी अधिकताके कारण तमोगुण बहुत है, तथा भूलोकमें रहनेवाली एक प्रकारकी मनुष्य जातिकी सारी सृष्टिमें सत्व तथा तमके रहने पर भी धर्माधर्ममें अधिकतर प्रवृत्ति होनेके कारण रजोगुण अधिक होनेसे रजोगुण अधिक है। इसमें ब्रह्मासे लेकर वृक्षादिकों तक सारी सृष्टिका निवेश संक्षेपसे आजाता है, अर्थात् लिङ्ग-सृष्टि और सूक्ष्म तन्मात्रा सृष्टि ऐसी दो प्रकारकी अभौतिक सृष्टि तथा पूर्वोक्त १४ प्रकारकी भौतिक सृष्टिका इसमें संग्रह होता है ॥ ५४ ॥

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्मात् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

परन्तु हे शिष्यो ! इस प्रकारकी सारी सृष्टि दुःखदायक है ऐसा जाननेसे मुक्तिमें उपयोगी वैराग्यरूप साधन उत्पन्न होता है, क्योंकि चेतन-प्रकाशरूप भी आत्मा पूर्वोक्त चतुर्दश लोकसृष्टि या शरीरादिकोंमें वृद्धावस्था, मरण इत्यादिकोंसे

---

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि अवान्तर भेदोंको हाथ-पैर इत्यादि अवयव-रचना समान होनेसे अलग नहीं कहा है।

महत्तत्वादि लिङ्गोंकी निवृत्ति न होनेके कारण या जबतक इनकी निवृत्ति नहीं होती तब तक-अनेक प्रकारके दुःखोंको प्राप्त करता है, इसलिये स्वभावतः सृष्टिमें दुःख ही है अर्थात् ज्ञानियोंके लिये सारा संसार दुःखरूप है, इसीलिये योगदर्शनमें कहा है "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः" ॥ अर्थात् बुढौतीके दुःखसे तथा मरणके दुःखसे और बार २ जन्म लेनेके दुःखसे भी ज्ञानीके लिये सारा जगत् दुःखमय है ॥ ५५ ॥

इत्येवं प्रकृतिकृतौ महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

परन्तु महत्तत्वसे लेकर महाभूत पर्यन्त यह सारी सृष्टि साङ्ख्यमतसिद्ध प्रकृतिहीसे बनी है न ईश्वरसे न ब्रह्मसे, या अकारणभी नहीं है, अकारण माननेसे इस सृष्टिकी सदा सत्ताही रहेगी, या सदा अभावही। अपरिणामी होनेसे ब्रह्मका कार्यभी सृष्टिको नहीं माना जा सकता। ईश्वरको शरीर न होनेसे व्यापारके बिना 'ईश्वर भी अपने अधिष्ठानसे प्रकृतिके द्वारा जगतको बनाता है' यहभी नहीं हो सकता, क्योंकि देखने में आता है कि बिना हाथ-पैर चलाये बढ़ईभी कुल्हाड़ीसे लकड़ीको काट नहीं सकता।

प्रश्न—यदि केवल प्रकृतिसे सृष्टि बनती हो तो उसके सदाही प्रवृत्तिस्वभाव होनेसे सदाही सृष्टिके रहनेसे किसीकी कभी मुक्ति न होगी ?

उत्तर—जिस प्रकार भात चाहने वाला भात तयार करनेके लिये रसोई बनानेमें प्रवृत्त होकर भात तयार होनेपर उसे खाकर क्षुधासे निवृत्त होता है उसी तरह हर एक पुरुषोंको भोग देकर मुक्त करनेके लिये प्रवृत्त हुई प्रकृतिभी जिस पुरुषको मुक्त कर देती है उस पुरुषके लिये फिर भोग देनेके लिये प्रवृत्त नहीं होती अर्थात् प्रकृतिकी प्रवृत्ति स्वार्थके समान केवल परार्थ-पुरुषके लिये ही है ॥ ५६ ॥

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

प्रश्न—जड़ होनेसे प्रकृतिकी स्वयं प्रवृत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—जैसे जड़ होनेपर भी गायके थनसे दुग्धकी बछड़ेके जीने तथा बढ़नेके लिये ही स्वयं प्रवृत्ति होती है अर्थात् दूध गायके थनसे खुद बहने लगता है, उसी तरह जड़ प्रकृतिकी भी हरएक पुरुषके संसार-बन्धनसे छुड़ानेके लिये भी स्वयं प्रवृत्ति होती है ऐसा माननेमें कोई बाधक नहीं है।

प्रश्न—दूधकी प्रवृत्तिभी ईश्वरहीके प्रेरणासे होती है इसलिये बिना चेतन के अधिष्ठानके प्रकृतिकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये ईश्वर मानना आवश्यक है ?

उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि परिपूर्ण कामनावाला ईश्वर बिना प्रयोजन के सृष्टि करनेमें प्रकृतिको क्यों प्रवृत्त करेगा, सृष्टिके पहिले जीवोंको शरीरादिक न होनेसे दुःख न हो सकनेके कारण उसके हटानेके लिये ईश्वर करुणासे सृष्टि करानेमें प्रवृत्त होता है यह भी नहीं कहा जा सकता। परिपूर्णकाम होनेसे उसका कोई स्वार्थ भी सृष्टि करनेमें प्रयोजक नहीं हो सकता इसलिये स्वयं जड़भी प्रकृति पुरुषार्थरूप प्रयोजनसे क्षीरादिकोंके समान प्रवृत्त होती है यही मानना उचित है ॥ ५७ ॥

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

प्रश्न—चेतनके समान जड़में प्रयोजनके उद्देशसे प्रवृत्ति कैसे होगी, क्योंकि बिना प्रयोजन किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती ?

उत्तर—जैसे अपनी भात खानेकी उत्कट इच्छाको दूर करनेके लिये मनुष्य रसोई बनानेमें प्रवृत्त होता है, वैसे प्रकृतिभी मुझे पुरुषार्थ करना है ऐसी इच्छा होनेपर उसके निवृत्त होनेके लिये पुरुषके मुक्तिरूप फलके लिये प्रवृत्त होती है, क्योंकि उसके सिद्धिके बिना उस इच्छाकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये केवल परार्थ ही प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है ॥ ५८ ॥

रङ्गस्य दर्शयित्वा विनिवर्त्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

प्रश्न—इस प्रकार प्रवृत्ति होनेपरभी निवृत्ति कैसे होगी यदि न हो तो पुरुष को मोक्ष न होगा ?

उत्तर—जैसे नचनी सभासदोंको हावभावके साथ नाच दिखानेके बाद इनाम पाकर स्वयं नाच दिखानेसे निवृत्त हो जाती है, वैसेही प्रकृतिभी सुख दुःखादि भोगके द्वारा पुरुषको अपना स्वरूप दिखाकर 'तू मुझसे भिन्न है, मैं मुझसे भिन्न हूं' इस प्रकारके विवेक-ज्ञान होनेपर स्वयं निवृत्त हो जाती है जिससे वह पुरुष प्रकृतिसम्बन्धके छूटनेसे मुक्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

प्रश्न—परार्थ कार्य करनेमें भी अपना कोई स्वार्थ होता है परन्तु आत्मा से तो प्रकृतिका प्रत्युपकार (उपकारका बदला) देखनेमें नहीं आता ?

उत्तर—सत्त्व, रज, तमोगुण वाली अत एव परोपकारिणी प्रकृति सञ्चित स्वभाव होनेसे निर्गुण, इसलिये उपकार करनेमें असमर्थ ऐसे पुरुषके भोग तथा अपवर्ग रूप प्रयोजनको महत्तत्त्वादि रूप साधनोंसे बिना अपने किसी स्वार्थ हीके किया करती है, अर्थात् गुणवानोंका यह स्वभावही है कि वे उपकारका बदला न चाहते हुए भी परोपकार किया करते हैं, इसलिये यह कोई नियम नहीं है कि स्वार्थके लियेही उपकार किया जाता है ॥ ६० ॥

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

प्रश्न—जैसे नचनी नाचदिखानेके बाद इनाम पाकर उस समय नाचना छोड़ देती है पर फिरभी देखने वालोंकी इच्छा होनेसे नाचनेमें प्रवृत्त होती है वैसे प्रकृति भी पुरुषको विवेकसे अपनेको दिखाने के बाद फिर क्यों न दिखायेगी, अर्थात निवृत्त होनेपर भी उस पुरुषके लिये फिर प्रवृत्त क्यों न होगी ?

उत्तर—जैसे कोई पतिव्रता युवती कुलाङ्गना असावधानीसे माथेपरका आंचल गिरनेके कारण पराये मर्दसे एकबार देखली जाय तो वह लज्जासे नीचे मुखकर हटजाती है और फिर इस प्रकार सावधान रहती है कि जिससे उसे फिर पराया मर्द देख न सके, वैसेही अत्यन्त सुकुमार प्रकृतिभी परात्मा पुरुषसे ज्ञान दृष्टिसे एकबार भोगापवर्गके समय देखी हुई फिर उस पुरुषके दृष्टिगोचर नहीं होगी, अर्थात विवेकज्ञानके प्रतिबन्धक होनेसे प्रकृतिकी उसपुरुषमें लज्जासे कुलाङ्गनाके समान प्रवृत्ति नहीं होती ऐसा मेरा मत है ॥ ६१ ॥

तस्मान्न बद्ध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बद्ध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

प्रश्न—तब तो पुरुषके मोक्षके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है यह कहना असङ्गत हो जायगा, क्योंकि साङ्ख्यमतमें आत्माके निर्गुण तथा अपरिणामी होने से उसे सुख दुःखादिकोंसे बन्धन नहीं हो सकता तो उससे छुटकारा होनाभी असम्भव है, बन्धनसे छूटनेही को तो मोक्ष कहते हैं ?

उत्तर—जब कि आत्माको स्वाभाविक सुख-दुःखादिक नहीं है तब वस्तुतः वह न बंधता है, न छूटता है, न किसी पुरुषको संसार होता है, किन्तु अनेक पुरुषों

के सहारेसे रहनेवाली प्रकृतिही बुद्ध्यादिकोंके द्वारा बन्धनादिकोको प्राप्त होती है, अर्थात् प्रकृतिके प्रथम परिणाम रूप बुद्धिहीमें बन्धनादिक वस्तुतः रहते हुए भी उसके सम्बन्धसे आत्मामें आरोप किये जाते हैं, इसलिये भ्रमसे आत्मामें बन्धन तथा मुक्तिका व्यवहार होता है ॥ ६२ ॥

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

प्रश्न—यदि साङ्ख्यमतमें आत्माको प्रकृतिके सम्बन्धसे संसार बन्धन इत्यादिक होते हैं तो प्रकृतिको किस कारण होते हैं ?

उत्तर—वह प्रकृति आत्माके भोग रूप कार्यके लिये बुद्धिरूप परिणामसे आत्माको धर्म-वैराग्य-ऐश्वर्य-अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य-नामके पूर्वोक्त सात भावोंसे बन्धन करती है, और मोक्षरूप कार्यके लिये ज्ञानरूप एकभावसे आत्माको संसारसे छुड़ा देती है, इससे यह सिद्ध होता है कि वैराग्यादिकोंके न रहते भी ज्ञानसे मुक्ति होती है और वैराग्यादिकोंसे प्रकृतिमें लय मात्र होता है ॥ ६३ ॥

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

प्रश्न—ज्ञानहीसे मुक्ति हो, पर वह ज्ञान किस साधनसे होता है तथा उसका क्या आकार है ?

उत्तर—उक्त प्रकारसे साङ्ख्यशास्त्रमें कहे हुए पञ्चविंशति तत्त्वोंके ज्ञानके बार २ चिन्तनरूप निदिध्यासनरूप अभ्याससे शुद्ध आत्मविषयक प्रत्यक्षात्मक कैवल्यनामकज्ञान पैदा होता है, अर्थात् निदिध्यासनकी सहायतासे मनहीसे आत्माका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है नकि अनुमान अथवा आगमसे । जिसका आकार है—'नास्मि' मै कर्ता नहीं हूं, अर्थात् मेरी आत्मा बुद्धिके कर्तृत्व धर्मसे शून्य है, तथा 'न मे' मेरेमें दुःखादि धर्म नहीं हैं, और 'नाहम्' मेरेमें अहङ्कारभी वास्तविक नहीं है, अथवा 'नास्मि' इससे मेरेमें कोई क्रिया (व्यापार) नहीं है, क्रियाके न होनेसे 'नाहम्' मेरा कहीं भी कर्तृत्व नहीं है, और इसीलिये 'न मे' मेरी कहीं स्वामिता-[प्रभुत्व] नहीं है । इस आकारका अपरिशेषं—जिस ज्ञानके बाद और कुछ जानना बांकी नहीं रहता, अर्थात् अन्तिम , तथा अविपर्ययात्—संशय और मिथ्याज्ञान रूप ज्ञानके मैलेके दूर हो जानेसे, विशुद्ध—निर्मल, अर्थात् मिथ्याज्ञानकी वासनाको हटानेमें समर्थ मुक्तिको देनेवाला कैवल्यज्ञान पैदा होता है ॥ ६४ ॥

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥ ६५ ॥

और इस कैवल्य ज्ञानसे भोगापवर्गरूप कार्यको पैदा करनेसे निवृत्त—अर्थात् हटगई, तथा प्रकृति-पुरुषविवेक ज्ञानरूप तत्वज्ञानके सामर्थ्यसे धर्माधर्म इत्यादि सात भावरूप धर्मोंसे शून्य प्रकृतिको दर्शकके समान बैठा हुआ स्वरूपस्थित आत्मा शरीरके रहनेसे होनेवाली केवल सात्विक बुद्धिके बलसे देखता है, अर्थात् भेद-ज्ञानरूप तत्वज्ञान अभेदज्ञानरूप मिथ्याज्ञानका नाश होनेके कारण मिथ्याज्ञानरूप कारणके न रहनेसे धर्माधर्मादि कार्योंसे रहित प्रकृतिको पुरुष देख लेता है ॥६५॥

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

प्रश्न—पुरुष तथा प्रकृतिके नित्य होनेके कारण उनदोनोंके संयोगका नाश न होनेसे प्रकृति अपने कार्योंको क्यों नहीं पैदा करेगी ?

उत्तर—उन दोनोंमेंसे एक आत्मा-मेरेसे भिन्न तथा अपने सम्बन्धसे पुरुष को बांधनेवाली प्रकृतिको-मैंने देख लिया ऐसा समझकर उससे हट जाता है, अर्थात् उसके भोग सम्बन्ध से दूर हो जाता है, और प्रकृतिभी मुझे इस आत्माने जानलिया ऐसा समझ कर उससे हट जाती है इसलिये पूर्वोक्त योग्यताऽऽत्मक दोनोंके संयोगके रहने परभी उस आत्माके सम्बन्धसे प्रकृतिके कार्य नहीं पैदा होते ॥ ६६ ॥

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवत् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

प्रश्न—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि श्रुतिसे तत्वज्ञानके बाद ही यदि मुक्ति होती हो तो सारे कर्मों के नष्ट होनेसे शरीरादिकोंके न होनेके कारण आत्मा-को पूर्वोक्त प्रकृति दर्शन कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञानमें शरीरादिक कारण होते हैं ?

उत्तर—मिथ्याज्ञान को नष्ट करनेमें समर्थ तत्वज्ञानके पैदा होनेसे प्रारब्ध कर्मोंसे भिन्न सञ्चित धर्माधर्म रूप कर्मोंके जले बीजके समान जल जानेके कारण अपने सुखदुःखादि फलोंको पैदा करनेका सामर्थ्य न होनेसे प्रारब्ध शरीरके पैदा करनेवाले अदृष्टके संस्कारसे प्रारब्ध शरीरके भोगके समाप्त होने तक(१) ज्ञानीका

(१) क्योंकि प्रारब्ध कर्मोंका भोगहीसे नाश होता है ।

शरीर कुम्हारके चक्रके चलानेको छोड़ने परभी जैसा वह वेगसे कुछ देर तक घूमा करता है, वैसे ज्ञानीका शरीरभी रहता है, अर्थात् तत्त्वज्ञान होने पर कर्मोंका नाश होता है इसका तत्त्वज्ञानके प्रागभावके नष्ट होनेसे फल पैदा नहीं होता यह अर्थ है नकि प्रारब्ध शरीरादिकोंका नाश होना ॥ ६७ ॥

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

प्रश्न—यदि तत्त्वज्ञान होनेपरभी ज्ञानी रहता है तो उसे मुक्ति कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—भोगसे प्रारब्ध कर्मोंका नाश होने पर शरीरका नाश होनेसे बुद्धि तत्वादि द्वारा जिसने भोग तथा अपवर्गरूप कार्य किया है ऐसे प्रकृतिके ज्ञानी आत्मासे हटने पर (अर्थात् संयोगाभावरूप लय होने पर) अवश्य होने वाले तथा जिसमें फिर दूसरा दुःख नहीं पैदा होता ऐसे दो प्रकारके कैवल्यको आत्मा प्राप्त करता है, अर्थात् प्रकृति तथा पुरुषके भेदज्ञानको प्रत्यक्ष देखने वाली आत्मा सारे दोषोंके क्षीण होनेसे भोगके द्वारा प्रारब्ध कर्मका क्षय होते ही उसके ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखोंका नाश अवश्य होजाता है, इस प्रकार ज्ञानीको मुक्ति होती है ॥ ६८ ॥

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

हे शिष्यों ! इस प्रकारसे मुझसे कहा हुआ तथा मुक्तिको देनेवाला यह सांख्य शास्त्रका ज्ञान जिसे मन्दबुद्धियोंको जानना कठिन है महर्षि कपिल मुनिसे वर्णित होनेके कारण प्रामाणिक है, इसलिये तुम विश्वास करो, जिस ज्ञानके लिये ही शास्त्रोंमें प्राणिमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयका वर्णन किया गया है ॥६९॥

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

प्रश्न—कपिल मुनिसे कहा हुआ यह सांख्य शास्त्रका रहस्य ईश्वरकृष्णने कैसे जाना?

उत्तर—सब पापोंके नाशक होनेसे पवित्र, तथा सब पवित्रोंमें श्रेष्ठ इस सांख्य शास्त्रके ज्ञानका कपिल महर्षिने अपने शिष्य आसुरि मुनिको, तथा

उन्होंने अपने शिष्य पञ्चशिखाचार्य को बड़ी दयासे उपदेश दिया और पञ्चशिखाचार्यने इस शास्त्रका शिष्य परम्परा द्वारा संसारमें बहुत प्रचार किया ॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
सङ्क्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

प्रश्न—तो क्या ईश्वरकृष्णने भी पञ्चशिखाचार्यसे ही यह सांख्यज्ञान प्राप्त किया ?

उत्तर—पञ्चशिखाचार्यके शिष्य-परम्परासे इसे प्राप्त कर ज्ञानी पण्डित ईश्वर कृष्णने भी इस सांख्यशास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन तथा अभ्याससे सिद्धान्त जान कर उसे आर्या छन्दमें बनाकर अपने शिष्योंको पढ़ाया ॥ ७१ ॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

इन सत्तर आर्याओंमें जो सांख्यशास्त्रके विषय लिखे हैं वे ही साठ प्रकारके सांख्य(१) शास्त्रके पदार्थोंके सम्पूर्ण विषय हैं इसलिये यह भी शास्त्र है नकि एक प्रकरण, पर इनमें सारे छ अध्यायोंमें लिखे गये सांख्यदर्शन सूत्रोंके समान कहानियां तथा अन्य दर्शनोंकी बातें नहीं लिखी गई हैं ॥ ७२ ॥

इति सांख्यकारिका भाषानुवादः ।

---

(१) साठ पदार्थ इस प्रकार हैं—१ पुरुष, २ प्रकृति, ३ बुद्धि, ४ अहङ्कार, ५-७ तीन गुण, ८ पञ्च तन्मात्रा, ९ इन्द्रिय, १० पञ्चमहाभूत (ये दश मौलिक पदार्थ हैं) ११-१५ पांच प्रकारके विपर्यय, १६-२४ नौ प्रकारकी तुष्टि, २५-५२ अट्ठाइस प्रकारकी अशक्ति, तथा ५३-६० आठ प्रकारकी सिद्धि ।